

आचार्य शुक्ल ने ही सर्व प्रथम हिन्दी में इस सत्य को प्रतिपादित किया कि भारतीय चिन्तन के मूल में एक मानवतावादी-भावना रही है, जिसने विभिन्न परिस्थितियों में अपना प्रगटीकरण किया है। यहाँ अन्य विस्तारों में न जाकर मैं यही कहूँगा [illegible]
विकास कर सके थे, वह बुद्धि[illegible] [illegible]गा [illegible]
भावात्मकता थी, और व[illegible]
[illegible]

भा नहीं सुलभ. . । ७ विषय-सूची
और तारतम्यपूर्वक अपने ... तप।...
के परिणाम स्वरूप हिन्दी का अति...ध्र ही व्य... पृष्ठ संख्या
जा रहा है। इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में ... गवेषणा, विश्लेषण और खोज बढ़ती जा रही है कि आज इन सब नवीन तथ्यों की फिर से, नवीन दृष्टिकोण से, विवेचना की आवश्यकता उठ खड़ी हुई है। किन्तु विकास क्रम में यह नैरन्तर्य्य तो जीवन में आवश्यकता ही है और ऐसा होता रहे, यही मनुष्य के बढ़ते हुए ज्ञान का चिह्न और प्रतीक है, परन्तु इस विकास को समझने के लिये में बार-बार पीछे मुड़ कर देखना ही होगा और जब जब हम ऐसा क... हम उन मनीषियों की कृतियों का अध्ययन करना होगा, जिन्होंने ... नींव के पत्थर रखे थे। यदि कहा जाये कि आचार्य शुक्ल ऐसी ही नींव के पत्थर हैं, और बड़े महत्त्व पूर्ण स्थान पर लगे हुए हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। बल्कि यह भी कहना सत्य होगा कि वे केवल नींव के पत्थर नहीं थे, वे स्वयं प्रारम्भिक भवन निर्माण के ही प्रतीक भी थे। 4324

आचार्य शुक्ल ने साहित्य की मूलभूत समस्य ओं में से प्रायः हर एक पर लेखनी चलाई और एक अध्यापक होने के नाते उन्होंने तत्कालीन पाठकों की अभिरुचि अथवा परिस्थिति को समझ कर ऐसे ढंग से लिखा कि उनके साहित्य में सूत्रों की योजना से लेकर सारांश बोध तक का परिचय प्राप्त होता है।

आचार्य शुक्ल ने जो सबसे बड़ा काम किया वह पाश्चात्य और भारतीय-साहित्य-शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति थी, और इसीलिये उनके निबन्ध केवल पुरानी परिपाटी के पिष्ट पेषण नहीं रहे; उनसे तथ्यों और विचारों के सम्बन्ध में मतभेद रख कर भी इसी कारण पाठक वह मौलिकता पाता है, जो उसे विचारों के क्षेत्र में ला खड़ा करती है।

आचार्य शुक्ल ने ही सर्व प्रथम हिन्दी में इस सत्य को प्रतिपादित किया कि भारतीय चिन्तन के मूल में एक मानवतावादी-भावना रही है, जिसने विभिन्न परिस्थितियों में अपना प्रगटीकरण किया है। यहाँ अन्य विस्तारों में न जाकर मैं यही कहूँगा कि जिस युग में वे अपना विकास कर सके थे, वह बुद्धिवादी युग होते हुए भी उसके पीछे एक भावात्मकता थी, और वह भावात्मकता अपने सामाजिक और राजनैतिक रूप में राष्ट्रीयता के रूप में प्रस्फुटित हुई थी। भावात्मकता को हेय समझना भूल ही होगी। जब परम्परा का नियमन हमारे वस्तु सत्यों का निर्धारण करता है और हम उसे भाव-पक्ष के कारण स्वीकार करते हैं तब उसे पूर्ण रूप से विश्लेषणात्मक चिंतन नहीं कहा जा सकता। इसलिये उस युग ने अपने द्वन्द्वों में, अपने विकास में, और अपने द्वन्द्वों के विकास में, जो प्रभाव डाले थे उनका आचार्य पर प्रभाव पड़ना आवश्यक ही था। उसमें भी तत्कालीन उलझनों के कारण, यूरोपीय मध्यवर्गीय चिंतन के कारण, मार्ग सुलझा हुआ सा नहीं था। यूरोपीय चिंतन की पुरानी पृष्ठभूमि अधिक नहीं थी, वे नये देशों के विचार थे। आचार्य ने यद्यपि ऐतिहासिक भाग पर अधिक ज़ोर नहीं दिया, किंतु उन्होंने जिस लोकरंजन और साधारणीकरण में भारतीय चिंतन की आत्मा को स्वीकार किया वह निस्संदेह उनकी साहित्य को एक देन ही बनी रहेगी।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीमती विमला कौल ने इस तथ्य की ओर स्पष्ट ही इंगित किया है। उन्होंने जिस परिश्रम से आचार्य के विचारों की व्याख्या की है, वह विद्यार्थियों के लिये तो अत्यन्त उपयोगी प्रमाणित होगी ही, साधारण रूप से साहित्य में अभिरुचि रखने वालों को भी इसे पढ़ने में सुख प्राप्त होगा। आचार्य के दुरूह विचारों को भी श्रीमती विमला कौल ने सरल करके स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने आचार्य के मत और चिंतन को व्याख्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया है और इसमें वे सफल हुई हैं।

—रांगेयराघव

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

———

अध्याय १

विषय-प्रवेश

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पूर्वजों का मूल निवास स्थान गोरखपुर मंडलांतर्गत (जिले में) भेड़ी नामक स्थान था। आपके पितामह का नाम पं० शिवदत्त शुक्ल था जिनका देहावसान तीस वर्ष की अवस्था में हो गया था, उस समय शुक्ल जी के पिता पं० चंदवली शुक्ल केवल चार-पाँच वर्ष के बालक थे। अपने चारों पुत्रों को लेकर शुक्ल जी की मातामही 'नगर' की रानी साहिबा के साथ रहने लगीं और उन्होंने 'नगर' के समीप बस्ती जिले में अगोना नामक ग्राम में भूमि देकर घर बनवा दिया था।

जीवनी

आचार्य जी का जन्म अगोना ग्राम में ही संवत् १९४१ की आश्विन पूर्णिमा को हुआ, आपकी माता गामा के मिश्रवंश की पुत्री थीं, इसी वंश में गोस्वामी तुलसीदास का जन्म हुआ था। अतः शुक्ल जी को साहित्य-प्रेम अपनी माता-वंश परम्परा से प्राप्त हुआ कहा जा सकता है। शुक्ल जी की शिक्षा का श्रीगणेश हमीरपुर जिले की राठ तहसील में हुआ, आपके पिता पर मुसलमानी तथा अंग्रेजी प्रभाव बहुत था इसके अतिरिक्त यह वह समय था जब बहुत कम लोग हिन्दी पढ़ा करते थे अस्तु पिता के आदेशानुसार आप आठवीं कक्षा तक भी हिन्दी की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। इसके पश्चात् इनके पिता मिर्जापुर आगए और रमई पट्टी में रहने लगे, इसी बीच आपकी माता का स्वर्गवास हो गया। सं० १९५५ के लगभग आपने मिडिल पास किया और बारह वर्ष की अवस्था में काशी के पंडित रामफल ज्योतिषी की पुत्री से इनका विवाह हो गया। संवत् १९५८ में आपने लंदन मिशन स्कूल से फाइनल की परीक्षा पास की तथा एफ० ए०

पढ़ने के लिए कायस्थ पाठशाला में अपना नाम लिखाया, परन्तु शुक्ल जी की गणित बहुत कमज़ोर थी इस कारण पढ़ाई चल न सकी। इसके पश्चात् 'प्लीडरशिप' पढ़ने प्रयाग गए परन्तु उसमें भी आपको सफलता प्राप्त न हो सकी।

शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् मिर्ज़ापुर के कलक्टर के आफिस में २०) मासिक पर आपकी नियुक्ति हो गई, परन्तु आत्मसम्मान के नाते जैसा आप कहा करते थे "आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए काँटों पर घसीटा जाना अच्छा पर इसे खोकर फूलों में तुलना अच्छा नहीं।" आपको वह स्थान छोड़ना पड़ा। नौकरी छोड़ने पर घर का वातावरण आपके विरुद्ध हो गया इसके साथ अर्थ संकट भी बढ़ा जिसके कारण सं० १९६५ में मिर्ज़ापुर मिशन स्कूल में २०) मासिक वेतन पर ड्राइंग-मास्टरी कर ली। यह कार्य रुचि का होने के कारण आपने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक किया।

जैसा कहा गया है कि शुक्ल जी को साहित्यिक प्रेम अपने वंशपरम्परा से प्राप्त हुआ था, माता भारत के एक महान कलाकार के वंशज की थी, इसके अतिरिक्त आपके पिता को भी काव्य से बड़ा प्रेम था। आपने लिखा है कि उनके पिता फारसी तथा हिन्दी कविता के बड़े प्रेमी थे। रात को अपने परिवार के व्यक्तियों को एकत्र कर 'रामचरितमानस', 'राम चन्द्रिका' तथा भारतेन्दु के नाटक बहुत रुचि लेकर सुनाया करते थे। घर का यह वातावरण बालक के मन में प्रेरणाएँ भरता रहा जो एक दिन प्रस्फुटित हो उठी। आपने अपने बाल्यकाल के संस्मरण में लिखा है "सत्य हरिश्चंन्द नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द और कवि हरिश्चन्द में मेरी बाल-बुद्धि कोई भेद नहीं कर पाती थी।" कोई आश्चर्य नहीं कि यही प्रेरणा ६–७ वर्ष के बालक को अपने पिता के आदेश का उल्लंघन कर चुपके चुपके हिन्दी पढ़ने के लिए पं० गंगाप्रसाद के पास जाने के लिए प्रेरित करती रही थी।

मिर्ज़ापुर में ही आपका परिचय पं० केदारनाथ पाठक से हुआ, जिसका आपके साहित्यिक जीवन में विशेष रूप से महत्व है। पाठक जी

ने एक पुस्तकालय खोला था, जहाँ नित्य सायंकाल शुक्लजी पढ़ने जाया करते थे। यह उस समय का अवसर था जब आप नवीं कक्षा में पढ़ा करते थे, वहीं से आपकी साहित्यिक अध्ययन की प्रवृत्ति का विकास होता है। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था तक धीरे धीरे आपकी एक ऐसी साहित्यिक मित्र मंडली बन गई थी, जहाँ नित्य साहित्यिक चर्चा हुआ करती थी। 'प्रेमघन की छाया स्मृति' नामक लेख में आपने लिखा है "सोलह वर्ष की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते तो समवयस्क हिन्दी- प्रेमियों की एक खासी मंडली मुझे मिल गई। जिनमें श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल, बा० भगवानदास जी हरलना, पं० बदरीनाथ गौड़, पं० उमाशंकर द्विवेदी मुख्य थे।" इस समय तक आप 'हास्य-विनोद', 'पृथ्वीराज' नामक नाटक 'मनोहर छटा' नामक कविता तथा 'ग्यारह वर्ष का समय' नामक कहानी लिख चुके थे और आप अपने को एक हिन्दी लेखक समझने लगे थे। आपकी साहित्यिक-कृतियों की भूमि मिर्जापुर तथा काशी रही मिर्जापुर की प्रारम्भिक रचनाओं में—कहानी, कविता, निबन्ध, अनुवाद आदि मिलते हैं और इसके पश्चात् काशी में प्रौढ़ तथा पांडित्यपूर्ण रचनाएँ लिखी गईं।

'हिन्दी-शब्द-सागर' का कार्य करने के लिए शुक्ल जी सं० १९६६-६७ में काशी आए, यहाँ की सुविधाओं तथा प्रोत्साहन से आप एक प्रतिभाशाली आलोचक के रूप में हिन्दी साहित्य के सामने आए। 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन कुछ काल आपके हाथों में रहा, इसके पूर्व आप 'आनन्द-कादम्बिनी' का सम्पादन भी कर चुके थे। हिन्दी-शब्द सागर कोष का कार्य समाप्त करने के पश्चात् आपकी नियुक्ति हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक के पद पर हुई, इसी पद पर रह कर आपने हिन्दी के उच्च विषयों (साहित्यिक) की पूर्ति की। इसी बीच लगभग सं० १९६९-८० में आपने अलवर महाराज श्री जयसिंह के यहाँ अर्थ संकट के कारण नौकरी कर ली थी, परन्तु वहाँ के कार्य आपके स्वभाव के विरुद्ध थे अतः आपने उस स्थान को त्याग दिया। शुक्ल जी एक दिन घर में संयोग-वश फटी धोती पहने बैठे थे। उनकी

पत्नी ने कहा—"तुम अच्छी नौकरी तो करते नहीं, यहाँ ७५) पर जिन्दगी बिता रहे हो।" आपने तुरन्त उत्तर दिया—

"चीथड़े लपेटे चने चाबेंगे चौखट पर,
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।"

इसी आत्म-सम्मान तथा स्वभाव के वशीभूत होकर आपने अलवर राज्य की ४००) मासिक स्थान से त्याग पत्र दे दिया और काशी वापिस आ गए।

काशी में आप पूर्ववत् कार्य करते रहे तथा बाबू श्यामसुन्दरदास जी के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् आप सं० १९९४ में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बनाए गए। इस पद पर आप लगभग तीन वर्ष कार्य करते रहे। जीवन के अन्तिम दिवसों में आपको श्वास-रोग हो गया था जो जाड़ों में बहुत कष्ट दिया करता था, परन्तु इस रोग में भी आपका अध्ययन कार्य चलता रहता था। सं० १९९७ का जाड़ा बीतने को था और आप विश्वास करने लगे थे कि "यह जाड़ा तो मैं निकाल ले गया।" परन्तु सं० १९९७ का जाड़ा निकला नहीं और माघ सुदी ५ रविवार सं० १९९७ को लगभग रात्रि के साढ़े नौ बजे श्वास के प्रकोप के कारण सहसा हृदयगति रुक गई और हिन्दी-साहित्य अपने एक कलाकार को खो बैठा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक ऐसी प्रतिभाशक्ति लेकर हिन्दी-साहित्य में आए थे कि उन्होंने जिस अंग का स्पर्श किया वह चमक उठा। उनका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब साहित्य को प्रौढ़ रचनाओं की अत्यन्त आवश्यकता थी, आपके गंभीर व्यक्तित्व तथा अध्ययन-शील प्रकृति ने इसकी पूर्ण रूप से पूर्ति की।

कृतियों का परिचय

आपकी कृतियाँ मूलतः पाँच भागों में विभाजित की जा सकती हैं—(१) निबन्ध (२) आलोचना (३) इतिहास (४) काव्य तथा (५) अनुवाद, जिनमें पहली तीन प्रकार की कृतियों के लिए आपका विशेष महत्व है।

उन्नीसवीं शताब्दी संसार के साहित्यिक इतिहास में गद्य-युग कही जाती है। गद्य की एक विशेष शैली ने जब प्राधान्य और वैशिष्ट्य ग्रहण किया तो निबन्ध कहे जाने लगे। भारतीय साहित्य अन्य क्षेत्रों की भाँति निबन्ध क्षेत्र में भी आंग्ल-साहित्य से प्रभावित हुआ। आचार्य शुक्ल के पूर्व हिन्दी साहित्य में जो निबन्ध मिलते हैं उनमें निबन्ध का प्रधान तत्व प्रौढ़ता तथा विचारों का गाम्भीर्य न्यून रूप में मिलता है। हिन्दी साहित्य की इस आवश्यकता को शुक्ल जी ने पूर्ण किया।

निबन्ध

उन्होंने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में—'साहित्य', "भाषा की शक्ति", "उपन्यास", "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी" तथा 'मित्रता' आदि लेख लिखे थे। प्रौढ़ावस्था में लिखे गए लेख 'चिन्तामणि' में संगृहीत हैं जो दो प्रकार के हैं—(१) भावों व मनोविकारों पर लिखे गए तथा (२) समीक्षात्मक निबन्ध। समीक्षात्मक निबन्ध भी दो श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं। एक सैद्धान्तिक समीक्षा पर, तथा दूसरे व्यवहारिक समीक्षा पर लिखे गए लेख हैं। अतः उन्होंने जो मनोभावों सम्बन्धी लेख लिखे वे हिन्दी-साहित्य के लिए नवीन देन है। और साथ ही उनके समीक्षात्मक निबन्धों में आलोचना की जो पद्धति तथा आलोच्य के प्रतिपादन की कुशलता है वह पूर्ववत् देखने को नहीं मिलती। 'चिन्तामणि' के निबन्धकार के रूप में उन्होंने एक विशेष ढंग को अपनाकर उच्च कोटि के निबन्ध हिन्दी साहित्य को दिए।

आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी की प्रमुख तीन आलोचनाएँ प्रसिद्ध हैं—तुलसी, सूर तथा जायसी की आलोचना। ये व्यावहारिक आलोचनाएँ कहलाती हैं। इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना के अन्तर्गत उन्होंने काव्य पर ही विशेष रूप से विचार किया है। काव्य से सम्बन्धित 'रस-सिद्धान्त' तथा साहित्य के अन्य अंग, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि पर भी उन्होंने अपने विचार प्रगट किए हैं। जैसा अभी कहा गया व्यवहारिक आलोचनाओं में सूर, तुलसी, जायसी की आलोचनाएँ आपके

आलोचनाएं

क्रमिक अध्ययन, मनन, तथा चिंतन के परिणाम हैं, जिसकी झलक उनके प्रारम्भिक निबन्धों में दिखाई देने लगी थी।

शुक्ल जी की 'गोस्वामी तुलसीदास' विवेचनात्मक आलोचना है। यहाँ आलोचक ने कवि की विशेषताओं की विवेचना की है। तुलसी पर परिस्थितियों का प्रभाव मानव के मनोविकारों पर उनका अधिकार तथा साहित्य में उनका स्थान दिखाने के लिए अपने इतिहास का विवेचन तथा सैद्धान्तिक पक्ष का भी यथा स्थान वर्णन किया है। 'जायसी' की आलोचना भी विवेचनात्मक आलोचना है जिसमें अलंकारों, भाषा, दार्शनिक तत्वों पर गम्भीर विवेचन किया गया है। मनोविकारों का विश्लेषण 'वियोग-पक्ष' तथा 'प्रेम-तत्व' में किया गया है। यहाँ आलोचक की दृष्टि गुण, दोष विवेचन पर रही है। 'सूर' की आलोचना भ्रमरगीत सार की भूमिका के रूप में लिखी गई है, विवेचनात्मक होने पर भी इसमें ऐतिहासिक सामाजिक तथा साहित्यिक विवेचना तुलनात्मक रूप में आलोचक ने अपनी अन्य आलोचना के समान नहीं की है। यहाँ मुख्य दृष्टिकोण विषय तक ही रहा है। सूर की आलोचना उन्होंने दो पक्षों में विभाजित की है—हृदय-पक्ष और कला-पक्ष। हृदय-पक्ष में संयोग तथा वियोग शृङ्गार लिया गया है और कला-पक्ष में कवि की काव्यगत विशेषताएँ चित्रित की गई हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' का विशेष महत्व है। इसी को हम हिन्दी-साहित्य का प्रथम वास्तविक इतिहास मान सकते हैं। इसके अन्तर्गत प्राप्त हिन्दी-साहित्य की

इतिहास रचनाओं के आधार पर सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक अवस्थाओं आदि पर ध्यान रख काल-विभाजन किया गया है। अतः इसमें विशुद्ध इतिहास तथा साहित्यिक इतिहास का बहुत कुछ सम्बन्ध उपस्थित किया दृष्टिगोचर होता है। इन कारणों से 'हिन्दी-साहित्य का यह इतिहास' आरम्भ से ही साहित्यिक क्षेत्र में आदर पाता आया है और आज भी वह उतना ही विशेष महत्व रखता है।

शुक्लजी की कविताओं का विषय द्विवेदी-कालीन है, उसकी भाषा

सीधी साधी खड़ी बोली है जो उस समय की आदर्श काव्य भाषा थी।

काव्य — इनमें प्रमुख 'गोस्वामीजी और हिन्दू जाति', 'भारतेन्दु-जयंती', 'हमारी हिन्दी', 'आशा और उद्योग', 'प्रेम-प्रताप', 'अन्योक्तियाँ' आदि रचनाएँ हैं। आपकी कविताओं की अभिव्यंजना-पद्धति सरल और सुबोध है और अपने प्रचलित सुधारवाद तथा आदर्शवाद से कवि यहाँ प्रभावित हुआ है।

आचार्यजी ने दो भाषाओं से अनुवाद किए थे—अँग्रेजी तथा बंगला परन्तु अधिकतर उनके अनुवाद अँग्रेजी से ही हुए। अनुवादित लेख दो विषयों में विभाजित किए जा सकते हैं—

अनुवाद — (१) दर्शन तथा मनोविज्ञान सम्बन्धी।
(२) प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति सम्बन्धी।

प्रथम के अन्तर्गत सर ऑलिमर लॉज के एक लेख के आधार पर 'अखंडत्व', डाक्टर ब्राउन के 'फिलासफी आफ ह्यूमन माइंड' के आधार पर 'सदाचार और उत्तम प्रकृति' और हर्बर्ट स्पेन्सर के 'प्रोग्रेस इटस ला एंड काजेज' के आधार पर 'प्रगति व उन्नति, उसका नियम और निदान' आता है। द्वितीय क्षेत्र में 'इसाइक्लोपिडिया' ब्रिटानिका के लेख के आधार पर 'पारस का प्राचीन इतिहास', 'प्राचीन भारतवासियों की समुद्र यात्रा', डान मेगजीन में प्रकाशित श्री हाराणाचंद्र चकलेदार के लेख का अनुवाद प्रो० कृष्ण स्वामी आयंगर के लेख के आधार पर 'भारत के इतिहास में और डा० राजेन्द्रलाल मित्र के लेख के आधार पर 'प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा' लिखा था।

इन लेखों के अतिरिक्त आपने कुछ पुस्तकों का भी अनुवाद किया था। जिनके विषयों को ध्यान में रख हम उनको चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) दार्शनिक (२) शिक्षात्मक (३) ऐतिहासिक और सांस्कृतिक (४) साहित्यिक। दार्शनिक के अन्तर्गत जर्मन दार्शनिक हेगेल के 'रिडिल आव दि युनिवर्स' का अनुवाद 'विश्व प्रपंच' आता है। शिक्षात्मक की श्रेणी में 'राज्य प्रबन्ध-शिक्षा' राजा सर टी माधवराव के

'माइनर हिंटस' तथा 'आदर्श जीवन' स्माइल के 'प्लेन लिविंग एंड हाई थिंकिंग' का अनुवाद है। तीसरी श्रेणी में मेगस्थिनीज का भारतवर्षीय वर्णन' डा० श्वानबक के 'मेगस्थनीज इंडिका' का अनुवाद आता है और साहित्यिक क्षेत्र में जो सेफ एडिसन के 'एसे ऑज इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का अनुवाद' और राखालदास वंद्योपाध्याय द्वारा लिखित 'शशांक' उपन्यास का अनुवाद तथा सर एडविन ऑर्नल्ड की 'दिलाइट आव् एशिया के आधार पर पद्यानुवाद 'बुद्ध-चरित आता है।

द्विवेदी कालीन युग के वर्ग में आचार्य शुक्ल ऐसा व्यक्तित्व लेकर आए थे, जिसमें मौलिकता, अध्ययनशीलता तथा स्वतन्त्रता दिखाई देती है।

आचार्य शुक्ल की देन

आपकी कृतियों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि आपने अपनी प्रत्येक रचना में समकालीन आदर्शों तथा परम्पराओं से भिन्नता तथा मौलिकता प्रदान की थी और यही तथ्य उनकी शैली के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। शैली पर लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव अनिवार्य रूप से झलकता है इस दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाए तो हमें आपके व्यक्तित्व में गाम्भीर्य तथा हास्य व्यंग्य का अद्भुत समिश्रण मिलता है जिसके कारण आपकी शैली में यथार्थता अधिक तथा रमणीयता कम दिखाई देती है, परन्तु यथार्थता तथा गाम्भीर्य में भी यथा स्थान हास्य के छींटे दृष्टिगोचर होते हैं। आपके आलोच्य विषयों की रचनाओं की शैली रेखा गणित की तरह तार्किक हो जाती है। दुरुह विषयों को समझाते समय "सारांश यह है", तात्पर्य यह है कि आदि लिख कर समझाने की प्रवृत्ति आपमें विशेष दिखाई देती है। आपने साहित्यिक भाषा तथा उच्च कोटि की गद्य-शैली का निर्माण किया। भाषा-शैली की दृष्टि से आपका यही विशेष महत्व है। कृतियों के अन्तर्गत आपकी आलोचनाएँ, निबन्ध, इतिहास, अनुवाद तथा काव्य आता है, इन क्षेत्रों में भी आप अपनी मौलिकता नवीन आदर्श के लिए प्रसिद्ध हैं।

आलोचना का आदर्श शुक्ल जी के पूर्व केवल गुण दोष विवेचन मात्र दिखाई देता है, जिससे रूढ़िवादिता झलकती है। कवियों की विशेष-

ताओं तथा उनकी अन्तः प्रकृति का विश्लेषण जिसमें तुलनात्मक रूप दिखाई दे। शुक्लजी की ही देन है। आलोचक तथा आलोचना के रूप में आपमें अनेक विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिन्हें हम आपके आलोचना सम्बन्धी आदर्श कह सकते हैं। सर्व प्रथम आप में अपने अध्ययन, मनन के पश्चात् निर्धारित किया हुआ साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्त मिलता है, जिसका आपने जीवन पर्यन्त पालन किया। यह सत्य आपकी सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में मिलता है। यहाँ यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि आपने साहित्य-सिद्धान्त भी निर्धारित किए और व्यवहारिक आलोचना भी प्रस्तुत की थीं। आप विश्लेषणात्मक आलोचना-प्रणाली के पक्षपाती थे जिसमें आपने हृदय और बुद्धि दोनों का समन्वय किया है और अपनी रचना में कलाकार के कला-पक्ष तथा बुद्धि-पक्ष दोनों पर पूर्ण रूप से दृष्टि रखी है। विवेचना की स्पष्टता के लिए आपने अनेक शैलियों का आश्रय ग्रहण किया है। विषय के विभाजन के साथ, तथ्य स्पष्ट करने के लिये 'सारांश' में मूल बातें समाई गई हैं और कहीं-कहीं तथ्य प्रश्नात्मक रूप में पूछे जा कर उनका उत्तर स्पष्ट कराया गया है। आलोचक की दृष्टि विषय में वर्णित विशिष्ट तथा सामान्य दोनों बातों पर पूर्ण रूप से रही है उदाहरणतः 'पद्मावत की प्रेम पद्धति' में आलोचक ने भारतीय प्रेम-पद्धति तथा फारसी मसनवियों की प्रेम-पद्धति की तुलना दिखाई है, परन्तु यहाँ दृष्टिकोण में पद्मावत ही रहा है। इसी प्रकार उन्होंने यथा अवसर काव्य-शास्त्र तथा आलोच्य में वर्णित काव्य के सम्बन्ध से आए अन्य शास्त्रों की भी विवेचना की है। आलोचक ने गुण-दोषों का वर्णन समकालीन ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर किया है जिसका मूल कारण उसकी ऐतिहासिक समीक्षा पद्धति है।

आपकी व्यवहारिक आलोचनाओं में मनोभावों का आधार जिसके द्वारा आलोचक ने अपने कलाकार की आदि प्रकृति खोजने का प्रयत्न किया है मुख्य रूप में मिलता है। तुलनात्मक शैली को अपना कर आपने यह बातें और भी स्पष्ट करदी हैं। इसके अतिरिक्त उनकी आलोचनाओं

में विषम विवादों की टीका तथा उन पर अपनी सम्मति यथा स्थान दिखाई देती है। पाश्चात्य आलोचना शैली के प्रभाव स्वरूप आपने चरित्र चित्रण को प्रधानता दी परन्तु उसमें भारतीय आदर्श प्रमुख रूप से रहा। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आलोचना के क्षेत्र में आपने नई आलोचना शैली प्रदान कर हिन्दी-साहित्य के इस पक्ष की बहुत पूर्ति की और नया आदर्श प्रदान किया।

अलोचना के समान निबन्धों के क्षेत्र में भी आचार्य शुक्ल का स्थान तथा देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आपके पूर्व के निबन्धकारों में वह प्रौढ़ता नहीं दिखाई देती जो आप में है। आपने भावों तथा मनोविकार सम्बन्धी नवीन विषय साहित्य को दिए तथा समीक्षात्मक निबन्धों के सम्बन्ध में आलोच्य को विशेष उद्धरित करने की पद्धति प्रदान की। आपने विषय पर पूर्ण दृष्टि रख संयत तथा शिष्ट रूप में आत्म व्यंजना कर उन विचारात्मक निबन्धों को जन्म दिया जो आज हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं। आपके निबन्धों की विशेषताओं पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि उनमें संघटित विचार—परंपरा तथा वैयक्तिक प्रधानता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। विचारों का यह संघटन जहाँ धारा कहीं टूटती दिखाई न दे आपकी प्रमुख देन है। आप साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे, व्यक्तित्व में गाम्भीर्य के साथ-साथ विनोद की आपकी प्रवृत्ति थी जो आपके निबन्धों में यथा स्थान झलक आया है। अंग्रेजी निबन्धों के समान आपके निबन्धों में भी आत्माभिव्यक्ति दिखाई देती है परन्तु संयत तथा प्रसंगानुसार ही उसका उपयोग किया गया है। इसके साथ ही विचारात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं भावात्मकता के दर्शन भी होते हैं—"मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुबले हो जाते, अपने अँदेशे से ही सही, तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।"—(चिंतामणि, पृ १०५) परन्तु यहाँ भी शैली का गाम्भीर्य ही मिलेगा। आपने अपने निबन्धों द्वारा, निबन्धों के प्रतिपादन और भाषा-शैली को भव्यता तथा विशालता प्रदान की है जिसके उदाहरण—'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'मानस की धर्म-भूमि' आदि निबन्ध हैं। इसके साथ आपने अपने विचारात्मक

निबन्धों को निगमन शैली में प्रस्तुत करने की पद्धति साहित्य के सन्मुख रखी, यहाँ निबन्धकार सूत्र रूप में तथ्य रख उदाहरणों द्वारा उनको स्पष्ट करता है।

आचार्य शुक्ल द्वारा 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखने के पूर्व, साहित्यि में इतिहास के नाम पर तीन पुस्तकें विद्यमान थीं—(१) श्री शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' (२) श्री ग्रियर्सन कृत 'उत्तरी भारत की आधुनिक भाषा का साहित्य' तथा (३) श्री मिश्रबंधु कृत 'मिश्रबंधु-विनोद'। इन प्राप्त रचनाओं में सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक अवस्थाओं के आधार पर काल, विभाजन तथा उनकी प्रवृत्तियों का निर्देशन नहीं दिखाई देता। इस दृष्टि से शुक्ल जी का इतिहास ही सव प्रथम कहा जाएगा जो अपनी ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि के कारण अपना विशेष स्थान रखता है।

अनुवादक के रूप में भी आचार्य शुक्ल अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी प्रतिभा तथा कुशलता ने अनुवादों को भारतीयता के इतने अनुकूल ला दिया है कि वे मौलिक प्रतीत होने लगे हैं। अनुवादक के रूप में यही आपकी मुख्य देन है।

साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग सुधारवादिता तथा आदर्शवादिता लेकर आया जो उस समय के काव्य में भी झलकने लगा, आचार्य शुक्ल उससे प्रभावित अवश्य हुए, परन्तु उनका दृष्टिकोण बहुत व्यापक रहा। वह केवल देश-प्रेम में सीमित न रह विश्व-प्रेम में परिवर्तित हो उठा। इसके साथ छायावाद युग की अभिव्यंजना-पद्धति को आपने अपने भारतीय आदर्शों के अनुसार नया रूप प्रदान किया। काव्य के क्षेत्र में शुक्ल जी की प्रमुख देन है प्रकृति चित्रण, जो विशुद्ध रूप में चित्रित किया गया है। वे काव्यगत रहस्य-भावना का सम्बन्ध मूल रूप में प्रकृति से जोड़ते हैं इस कारण आपकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में अनेक स्थानों पर रहस्य-भावना के स्थल भी दिखाई देते हैं।

———

अध्याय २

विषय-वस्तु

'चिन्तामणि' आचार्य शुक्ल द्वारा प्रौढ़ावस्था में लिखित निबन्धों का संग्रह है। 'चिन्तामणि' के दो भाग हैं, उनके प्रायः समस्त विचारात्मक लेख संगृहीत कर दिए गए हैं। 'चिन्तामणि' के प्रथम भाग में सत्रह निबन्ध हैं तथा द्वितीय में केवल तीन निबन्ध हैं। आपने 'चिन्तामणि' के प्रथम भाग की भूमिका में लिखा है कि 'इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर।.... बुद्धि पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।" इसके साथ ही आपने लिखा है कि "यह निर्णय में विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय प्रधान हैं या व्यक्ति प्रधान।" आपके द्वारा निबन्धों के सम्बन्ध में लिखित बातें बुद्धि का हृदय को साथ लेकर चलना, विषय को प्रधानता देना अथवा व्यक्ति को प्रधानता देना आदि पर ही ध्यान रख कर 'चिन्तामणि' में संगृहीत निबन्धों का वर्गीकरण तथा विवेचन किया जा सकता है।

चिन्तामणि

'चिन्तामणि' के दोनों भागों के निबन्ध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं। प्रथम के अन्तर्गत भावों तथा मनोविकार सम्बन्धी लेख आते हैं और दूसरे समीक्षात्मक निबन्ध हैं। समीक्षात्मक निबन्धों के भी दो विभाग दिखाई देते हैं। एक विभाग में सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध रखे जा सकते हैं जैसे "कविता क्या है" 'रसात्मक बोध के विविध रूप', 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' आदि। दूसरे विभाग में व्यवहारिक समीक्षा पर लिखे गए निबन्ध आते हैं; जैसे

'भारतेन्दु हरिश्चन्द', 'तुलसी का भक्ति मार्ग, और 'मानस की धर्म भूमि।'

प्रथम विभाग में रखे गए भावों व मनोविकारों पर लिखे गए निबन्ध दश हैं :—भाव मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय तथा क्रोध। यहाँ लेखक की दृष्टि मनोविकारों की उत्पत्ति, उनके लक्षण और विकास का अध्ययन करते हुए व्यवहारिक जीवन तथा समाज में उसका प्रभाव डाल कर देखने में रही है। इन निबन्धों का मुख्य आधार जीवन व समाज का व्यवहारिक ज्ञान के साथ साथ लेखक ने मनोविज्ञान की भी सहायता लेने का प्रयत्न किया है।

'भाव या मनोविकार' में भावों से सम्बन्धित प्रस्तावना देने का प्रयत्न किया गया है। भाव क्या है, उनकी उत्पत्ति किस प्रकार से होती है तथा उसका क्षेत्र कितना व्यापक है यही उद्देश्य मूलतः इस निबन्ध के आधार हैं।

'उत्साह' नामक भाव को व्यक्त करते हुए लेखक कहता है "साहस-पूर्ण आनन्द की उमङ्ग का नाम उत्साह है।" यहाँ व्याख्या के पश्चात् उसके क्षेत्र का विवेचन किया गया है तथा यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि समाज के लिए यह भाव किस प्रकार लाभकारी सिद्ध होता है।

'श्रद्धा-भक्ति' में श्रद्धा के स्पष्टीकरण के लिए श्रद्धा तथा प्रेम में अन्तर तथा श्रद्धा की व्यापकता को प्रदर्शित कराया गया है। श्रद्धा नामक सामाजिक भाव का महत्व दिखाते हुए सूत्र रूप में लेखक भक्ति को परि-भाषा व्यक्त कर गया है "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।" इसके पश्चात् श्रद्धा किसप्रकार भक्ति की ओर अग्रसर होती है उदाहरणों द्वारा लेखक ने इसे समझाया है।

'करुणा नामक भाव की नींव लेखक के शब्दों में 'बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान होने पर दुख के उस भेद की नींद पड़ती है जिसे करुणा कहा जाता है। मानव प्रकृति में सात्विकता तथा शील का संस्थापन इसी मनो-

विकार द्वारा होता है। सामाजिक जीवन को पुष्ट बनाने के लिए इसका विकास अत्यन्त आवश्यक है। सहानुभूति इसी भाव का एक हल्का रूप है।

'लज्जा और ग्लानि' तथा 'लोभ और प्रीति' नामक निबन्धों में इन भावों की व्याख्या करते हुए सामान्य सामाजिक जीवन में उसकी उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता प्रदर्शित की गई है।

'घृणा', ईर्ष्या, 'भय', 'क्रोध' आदि भावों को लेखक ने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सन्मुख रख जीवन में इनके नापने का प्रयत्न किया है। प्रसंगवश 'प्रतिकार', 'आकांक्षा' आदि भावों की भी व्याख्या कर दी गई है।

अतः इन दश निबन्धों में आचार्य ने प्रायः समस्त समाज तथा जीवन में आने वाले भावों व मनोविकारों को निबन्ध का रूप दिया है। आप साहित्यिक व्यक्ति थे इस कारण आपने इन भावों तथा मनोविकारों को भी एक साहित्यिक की दृष्टि से देखा है यह निबन्ध शुद्ध शास्त्रीय मनोवैज्ञानिक विवेचन नहीं परन्तु व्यवहारिक विवेचनाएँ हैं जहाँ जीवन और समाज को इन भावों के आधारों से नापा तौला गया है।

दूसरे प्रकार के निबन्ध सैद्धान्तिक समीक्षात्मक हैं; जिसके अन्तर्गतः— "कविता क्या है ?", 'काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था' 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', "रसात्मक बोध के विविध रूप, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य", काव्य में रहस्यवाद, "काव्य में अभिव्यंजनावाद" आदि सात निबन्ध आते हैं।

'कविता क्या है ?' नामक निबन्ध में कविता की परिभाषा व्यक्त कर भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर कविता को आंकने का प्रयत्न किया है। कविता का व्यापक क्षेत्र, उसके प्रभाव का प्रसार, उसकी भावनाओं की उच्च भूमि तथा कविता का मूल आदर्श स्पष्ट किया है। 'चमत्कारवाद' तथा 'मनोरंजन' आदि को उदाहरण द्वारा लेखक ने काव्य के अत्यन्त साधारण उद्देश्य कहे हैं। 'कविता की भाषा' तथा "अलंकारों के संबंध में भी यथा अवसर विवेचना की गई है। अन्त में कविता को मानव की

अन्तः प्रकृति जाग्रत कराने का साधन मान लेखक निबन्ध समाप्त करता हुआ कहता है 'इसी से अन्तः प्रकृति में मनुष्यता को समय २ पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली जाएगी।

"काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था" के अन्तर्गत काव्य में वर्णित विषय को दृष्टि में रखकर काव्य दो भागों में विभाजित किया गया है:— (i) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्नपक्ष को लेकर चलने वाले (ii) आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले डंटन का उदाहरण देते हुए लेखक ने उपयुक्त विभेदों में विभिन्न काव्यों को रखकर विवेचना की है।

"साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद" भारतीय काव्य-शास्त्र के आदर्श साधारणीकरण को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उसका मूल तत्व तथा काव्य में महत्व समझाया गया है। इसके साथ योरोप के शील-वैचित्र्य या अंतः प्रकृति वैचित्र्य का स्पष्टीकरण भी हुआ है।

'रसात्मक-बोध के विविध रूप' में बाहरी रूप-विधान के तीन रूपों—

(१) प्रत्यक्ष रूप-विधान

(२) स्मृत रूप-विधान और

(३) कल्पित रूप-विधान की विवेचना की गई है।

'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक निबन्ध में लेखक ने प्राकृतिक दृश्य जिसका उद्देश्य 'बिम्ब ग्रहण' रहता है संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य से उदाहरण उद्धृत कर स्पष्ट किए हैं।

'काव्य में रहस्यवाद' के उद्देश्य के सम्बन्ध में लेखक ने स्वयं लिखा है "यह निबन्ध इस उद्देश्य से लिखा गया है कि रहस्यवाद या छायावाद की कविता के सम्बन्ध में भ्रान्तिवश या जान बूझकर जो अनेक प्रकार की बे सिर पैर की बातों का प्रचार किया जाता है, वह बन्द हो। मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखा विशेष मानता हूँ। पर जो इसे काव्य का सामान्य स्वरूप समझते हैं उनके अज्ञान का

निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।" मूल रूप से इस निबन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य उदाहरण देते हुए उपर्युक्त बातें ही समझाई गई हैं।

'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' नामक निबन्ध चौबीसवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इंदौर की साहित्य-परिषद के सभापति पद से दिया हुआ भाषण है जिसे यथा स्थान परिवर्तित कर यह रूप दे दिया गया है। यहाँ लेखक का मूल उद्देश्य काव्य में प्रचलित अभिव्यंञ्जनावाद को स्पष्ट करने का रहा है। इस वाद को शास्त्रीय रूप देने वाले क्रोचे (Croce) के विचारों को संक्षेप में लिख लेखक ने, 'वाद' को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है तथा साथ ही उसके प्रभावों को भी प्रदर्शित किया है।

'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' में हिन्दी साहित्य के गद्य विकास के अन्तर्गत भारतेन्दु जी का महत्व लेखक ने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। गद्य के साथ साथ उनके काव्य का भी सामान्य विश्लेषण किया गया है।

'तुलसी का भक्ति-भार्ग' नामक निबन्ध में गोस्वामी जी के व्यापक भक्ति क्षेत्र ज़िसमें राम के शील, शक्ति, और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा की गई है, पूर्ण रूप से प्रसारित किया गया है। तथा तुलसी के मूल भक्ति-तत्वों को समझाया गया है।

'मानस की धर्म-भूमि' के आधार पर मानव जीवन की (धर्म-सम्बन्धी) विभिन्न भूमियाँ लक्षित कर, लोक-धर्म के महत्व को लेखक ने स्पष्ट किया है। मानस के चरित्रों की विश्लेषण कर तुलसी द्वारा ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति तथा प्रवृत्ति की विवेचना भी की गई है।

'चिन्तामणि' के दोनों भागों में कुल बीस निबन्ध हैं, जो उपर्युक्त तीन विभागों में विभाजित किए जा सकते हैं। इन निबन्धों में किए गए नवीन विषय तथा ढंग (मनोभावों सम्बन्धी) तथा समीक्षात्मक निबन्धों में किए गए आलोच्य को उत्पादित करने की पद्धति के कारण ही आचार्य हमारे साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

साहित्य में 'निबन्ध' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है वह आधुनिक

गद्य-साहित्य की देन है, आधुनिक युग में अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से गद्य की अनेक धाराएँ प्रस्फुटित हुई जिसमें निबंध अपना विशेष स्थान रखता है। 'निबन्ध' शब्द कसा हुआ बंध अर्थ में प्रयुक्त होता है जो उसके (निबन्ध) के प्रस्तुत विचार तथा भावों को व्यवस्थित रूप में व्यक्त करने की बात स्पष्ट करता है।

शास्त्रीय विवेचना की दृष्टिकोण से शुक्ल जी के निबन्धों का विश्लेषण

अँग्रेजी आलोचक जहाँ निबन्ध में लेखक के व्यक्तित्व को विशेष महत्व देता है, वहाँ वह 'विचारों के कसाव पर इतना ध्यान नहीं देता, परन्तु हिन्दी में निबन्ध के अन्तर्गत व्यक्तित्व-चित्रण, लेखक के व्यक्तिगत विचार और उसकी स्वयं की विधि-विधान की विशेषताओं पर ध्यान रखना समझा जाता है। आचार्य जी निबन्ध को 'गद्य की कसौटी' कहते हैं, आपका विचार है कि "भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है।" (इतिहास पृ० ६०५) इसके साथ ही आप उन निबन्धों को उच्चकोटि का मानते हैं जिसमें नए नए विचारों की उद्भावना तथा अभिव्यक्ति हो और विचार एक दूसरे के साथ गुथे हुए दिखाई दें। आपके द्वारा निबन्धों से सम्बन्धित पंक्तियाँ इसी बात को लक्षित करती है कि वहाँ 'विचारों में कसाव रहे' तथा पढ़ने से "पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े" (इतिहास पृ० ६१०)

विचारों की प्रौढ़ता के साथ साथ आचार्य जी ने निबन्धों के सम्बन्ध में एक बात और कही है कि निबन्धकार अपनी निबन्ध-रचना करते समय बुद्धि के साथ हृदय को लेकर भी चलता है। लेखक की यही बुद्धि और हृदय को साथ लेकर चलने की प्रवृत्ति के कारण कहीं कहीं आपके विचारात्मक लेखों में भावात्मकता के दर्शन होते हैं।

साहित्य के अन्तर्गत लिखे जाने वाले लेख सामान्यतः पाँच भागों में विभाजित किए जा सकते हैं जो निम्नलिखित हैं——(१) विचारात्मक

२

निबन्धों के प्रकार (२) भावात्मक (३) आत्मव्यंजक (४) वर्णनात्मक (५) कथात्मक। यह भेद दो आधारों पर किए गए हैं। प्रथम रूप में वह है जिसका सम्बन्ध मानव बुद्धि तथा हृदय से है जिसके अन्तर्गत उपर्युक्त तीन प्रकार के निबन्ध आते हैं और द्वितीय रूप प्रचलित विषय प्रस्तुत करने की पद्धति से है, जिसमें पिछले दो प्रकार आते हैं। इन भेदों को देखने से स्पष्ट होता है कि द्वितीय भेद (व्यक्त करने वाली पद्धति पर आधारित होने के कारण) अपना विशेष महत्व नहीं रखता, क्योंकि भावनाओं तथा विचारों का तो वहाँ भी सन्निवेश दिखाई देता है। अतः मेरे विचार से मूल कम निबन्धों के दो ही रहते हैं—(१) विचारात्मक (२) भावात्मक

सर्व प्रथम आचार्य के मनोविकारों पर लिखे गए निबन्ध आते हैं। इन निबन्धों का विश्लेषण करने से पूर्णतः स्पष्ट होता है कि यह विचारात्मक साहित्यिक निबन्ध ही हैं, जिसमें लेखक ने एक मनोवैज्ञानिक के नाते 'भावों' या 'मनोविकारों' पर अपने विचार प्रगट नहीं किए हैं प्रत्युत एक साहित्यिक के नाते अपने स्वयं के अनुभव पर समाज और जीवन को देखते हुए उसके उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपने विचारों को व्यक्त किया है। यद्यपि आपके पूर्व भी श्री बालकृष्ण भट्ट का 'आत्मनिर्भरता' श्री प्रतापनारायण मिश्र का 'मनोयोग' नामक निबन्ध लिखे जा चुके थे पर वे विशुद्ध भावों की दृष्टि से लिखे गए थे, इन भावों के व्यवहारिक स्वरूपों पर नहीं लिखे गए थे। इसी कारण शुक्ल जी के यह निबन्ध शुद्ध शास्त्रीय दुरुहता प्रगट नहीं करते, उनमें सरसता, को रोचकता और साहित्यिकता की पुट बराबर दिखाई देती है। भावों की छान-बीन करके मनोविज्ञान शास्त्री के रूप में न कर एक सरल साहित्यिक के रूप में की गई है।

सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्ध शुक्ल जी के गंभीर अध्ययन तथा मनन के परिणाम थे। इन समस्त निबन्धों में यथा स्थान भारतीय काव्य शास्त्र तथा पश्चात्य काव्य शास्त्र का विश्लेषण किया गया है, अन्त में अपने मतानुसार अपने विचार व्यक्त किए गए हैं। आपके

इन निबन्धों में एक बात मूल रूप से दिखाई देती है कि न तो द्विवेदी-कालीन भारतीय काव्य शास्त्र पूर्णतः उसी रूप म उद्धृत कर दिया गया है और छायावाद युग के अनुसार पाश्चात्य विचार ज्यों के त्यों लिख दिए गये हैं। परन्तु यहाँ तो भिन्न भिन्न मत देते हुये अपने विचारों के आधार पर कथन स्पष्ट किया गया है।

व्यवहारिक समीक्षा सम्बन्धी निबन्धों में आचार्य ने भारतेन्दु तथा तुलसी को लिया है। प्रथम में भारतेन्दु के गद्य तथा काव्य का महत्व दिखाया गया है और द्वितीय में तुलसी का भक्ति मार्ग तथा 'मानस की धर्म भूमि' सम्बन्धी विचार हैं। यह समस्त निबन्ध विचारात्मक ही हैं और लेखक द्वारा प्रदर्शित की हुई अपनी विशेषताओं के कारण हिन्दी साहित्य ने यह निबन्ध अपना मुख्य स्थान रखते हैं।

आचार्य शुक्ल के निबन्धों की विशेषताएं

निबन्ध के सम्बन्ध में शुक्ल जी के क्या विचार हैं यह स्पष्ट करते हुए कहा जा चुका है कि विचारों के संघटन पर आपका विशेष ध्यान रहता था। जिसको आप निबन्ध का मूल तत्व मानते थे, यह विचार आपके समस्त निबन्धों में पूर्ण रूप से दिखाई देता है। कोई भी एक ऐसा निबन्ध नहीं जहाँ विचारों में ढीलापन खटकता हो; एक २ शब्द इस प्रकार चुन कर रखे जाते हैं कि विचार एक साथ गुंथे हुए प्रतीत होते हैं।

सघटित विचार परम्परा के साथ लेखक के व्यक्तित्व का समावेश भी यथा अवसर झलकता है। 'विषय, तथा व्यक्ति' के सम्बन्ध में उनके द्वारा लिखे गए विचारों का मैं पहले ही वर्णन कर चुकी हूँ, जिसका उदाहरण उनके किसी भी निबन्ध से दिया जा सकता है। निबन्ध का विषय और लेखक का व्यक्तित्व दोनों साथ-साथ चलते हुए भी कभी एक दूसरे से आच्छादित होते नहीं दिखाई देते। दोनों का समन्वय दिखाने के लिए आपके व्यक्ति के सम्बन्ध में ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। जो कुछ कहा गया है वह सब प्रसंग वश ही कहा गया है कहीं भी विषयान्तर नहीं होता। परन्तु साहित्यिक रुचि अवश्य स्पष्ट होती है। साहित्यिक

रुचि के अतिरिक्त आपके निबन्धों में लोकवाद भी प्रमुख रूप से प्रगट होता है। आपके विचारों के अनुसार समाज के कल्याण के लिए ऐसे राष्ट्र तथा मानवों की अत्यन्त आवश्यकता है जिनमें पारस्परिक सहानुभूति तथा प्रेम हो, जो मानव के उच्च धर्म को समझ सकें। संकुचित विचार समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। लोकवाद की यह भावना प्रायः उनके समस्त मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में झलक आती है।

नए ढंग की आत्माभिव्यक्ति करते समय जहाँ लेखक अपने अनुभव, अपने जीवन सम्बन्धी घटनाएं तथा व्यक्तिओं के उल्लेख यत्र-तत्र अपने निबन्धों में करता है—अंग्रेजी निबन्धों में यह विशेष रूप से दिखाई देता है जो कभी-कभी उच्छृङ्खलता का रूप धारण कर प्रसंग से बाहर चला जाता है। परन्तु शुक्ल जी में ऐसे उद्धरण सदा प्रसंगानुकूल हो कहे प्रतीत होते हैं। रात्रि में एक सुन्दर पहाड़ी का लेखक वर्णन कर रहा है। समयानुकूल आपके मुख से निकलता है "महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है" कि सहसा लखनवी महाशय कह उठते हैं—"यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" "मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।" (चिन्तामणि पृ० १०७) प्रसंग पड़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अपनी बात को कहना है इसलिए यह बात नहीं कही गई है प्रसंगानुकूल लेखक को स्मरण आ गया और वह लिख गया है। हास्य, विनोद आपकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, जो बड़ी संयत तथा शिष्ट भाषा में उनके निबन्धों में झलक उठती है। गंभीर शैली में हास्य के छींटे आपके निबन्धों में विशेष रोचकता ला देते हैं। बुद्धि तथा हृदय का सामंजस्य निबन्धों में बनाए रखने के कारण विचारात्मकता के अन्तर्गत बड़ी सुन्दर भावात्मकता दिखाई देती है। शैली यहाँ भी गंभीर रहती है, जिसके कारण शब्दों में विशेष प्रभाव आ जाता है।

आपने निबन्ध 'निगमन' शैली में लिखे हैं, अतः यत्र-तत्र वाक्य सूत्र रूप में मिलते हैं।" जैसे "श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।" तथा "बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।" आदि इन सूत्रों का आगे

चल कर लेखक उदाहरण देते हुए और कभी-कभी तुलनात्मक रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। अन्त में "सारांश यह है" लिख कर अपना विचार संक्षेप में कुछ पंक्तियों में स्पष्ट कर देता है।

आपने जो निबन्ध भावों पर लिखे हैं उसकी भाषा तद्भव तथा प्रचलित मुहावरेदार रखी है। यहाँ प्रत्येक स्थान पर लेखक अपने तर्क द्वारा विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। इस कारण प्रचलित शब्द 'सनकी', 'धूम', 'पराई' प्रचलित मुहावरे 'पेट फूलना', 'काँटों पर चलना', 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस" आदि का प्रयोग किया गया है। समीक्षात्मक निबन्ध साहित्यिक विषयों पर लिखे जाने के कारण उनमें तत्सम शब्दों की प्रधानता है, इनकी भाषा प्रौढ़ तथा विषयानुकूल हुई है।

आचार्य शुक्ल के निबन्धों का विश्लेषण करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे एक उच्च कोटि के निबन्धकार हैं। आपके पूर्व निबन्धकारों में तीन व्यक्तियों का नाम हिन्दी साहित्य में प्रमुख रूप से मिलता है—पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रताप नारायण मिश्र तथा पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, परन्तु शुक्ल जी की तुलना में हम एक को भी नहीं रख सकते। इन निबन्धकारों में से आत्म-व्यंजकता ही मूल रूप से प्रमुख है। आचार्य ने जहाँ साहित्य को नए विषय दिए वहाँ पर संयत और शिष्ट रूप में आत्म-व्यंजना भी की। इस दृष्टिकोण से आपके विचारात्मक निबन्ध हिन्दी साहित्य के लिए मुख्य देन बन गए, जिन पर हिन्दी साहित्य गर्व कर सकता है।

———

अध्याय ३

भाव या मनोविकार सम्बन्धी विचार

मनुष्य संसार में दुख सुख का सामान्य ज्ञान लेकर जन्म लेता है, बालक का रोना और हँसना इसी बात का प्रतीक है। यह सामान्य ज्ञान जिसे अनुभूति कहा गया है, इसको लेकर ही मानव अपना जीवन आरम्भ करता है। बालक जब अनेक विषयों को पहिचानने लगता है तब उसकी इच्छाएँ अनेक रूप धारण करती हैं, तभी भावों या मनोविकारों को जन्म मिलता है। शुक्ल जी भाव की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे सम्बन्ध रखने वाली इच्छा की अनेक रूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं।" (चिन्तामणि. पृ. १) दुख-सुख मूल अनुभूतियाँ हैं, यह ही अनेक विषयों के भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा आदि मनोविकारों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। शुक्ल जी इन अनुभूतियों को स्पष्ट करने के लिए अनेक उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि यदि किसी मनुष्य के सुई चुभने का कष्ट हो तो उसे दुख होगा, परन्तु यदि उसे यह ज्ञात हो जाए कि सुई एक व्यक्ति विशेष चुभा रहा है तो दुख अनेक मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के एकीकरण से 'क्रोध' नामक मनोविकार में परिवर्तित हो जाएगा। आगे आने वाली अनिष्ट के निश्चय से प्राप्त दुख, भय कहा जाएगा। बुद्धि में निश्चयता आने पर ही भय का उद्वेग होता है।

भाव

मनोविकार या भाव एक दूसरे से तथा दुख-सुख की मूल अनुभूति से बिल्कुल भिन्न होते हैं। शुक्ल जी यह स्पष्ट करने के लिए लिखते हैं—

"जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं" (चिन्तामणि पृ० २) ऊपर कहा गया है कि मनोविकारों का विकास विषय ज्ञान तथा उनसे उत्पन्न इच्छाओं के द्वारा होता है। हानि अथवा दुख का कारण ज्ञात हो जाने पर मूल अनुभूति—'दुख' से मनुष्य का काम नहीं चलता, उसे 'क्रोध' नामक भाव की आवश्यकता होती है। इसी आधार पर मनुष्य क्रियाशील दिखाई देता है। क्रिया शीलता का मूल कारण है इच्छाएँ। मूल अनुभूतियाँ केवल सीमित क्रियाओं तक हो, जैसे—हँसना, दाँत निकालना, रोना, चिल्लाना, हाथ पैर पटकना आदि तक रहती हैं, उनमें भावना, इच्छा और प्रयत्नशीलता नहीं रहती। यह रूप तो नाना वस्तुओं के बोध तथा उनसे विकसित इच्छाओं के आधार पर उत्पन्न भावों में ही रहते हैं।

शारीरिक क्रियाओं को देख भावों का निश्चय नहीं किया जा सकता जैसे 'कम्प' भय, क्रोध, प्रेम आदि अनेक भावों के कारण हो सकता है, परन्तु जब तक मारना, भागना, छिपना आदि प्रयत्नों द्वारा इच्छा स्पष्ट नहीं होगी तब तक किसी भाव विशेष का स्पष्टीकरण नहीं होगा। सभ्य जातियों में भाषा के शब्द मनुष्य के इन प्रयत्नों को व्यक्त कर देते हैं। शब्द, इच्छाओं को स्पष्ट कर मनुष्य के भावों की व्यञ्जना किया करते हैं। इसी कारण साहित्य के क्षेत्र के अन्तर्गत अनुभाव में आश्रय के बचनों को विशेष महत्व दिया जाता है जिसके द्वारा भावों की व्यञ्जना पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ व्यक्ति का यह कहना कि "मैं उसे पीस डालूँगा", क्रोध की पूर्ण व्यञ्जना करता है। वीर रस की उक्तियाँ जितने भावों का प्रसार करती हैं वैसी तलवार लिए उछल-कूद के वर्णन में प्रस्फुटन नहीं होता। कारण यह है कि वाणी का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, जिसके द्वारा भावों को व्यञ्जित करने के लिए अनेक नवीन रूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अनुभाव के व्यापार सीमित रहते हैं, परन्तु भाषा की व्यापकता उसे सदा नवीन सौन्दर्य दिया करती है।

मनुष्य के कार्यों को भाव प्रेरित करते हैं। मनुष्य के चरित्र उसके सदाचार, समाज तथा राजनीति की व्यवस्था—'लोक-रक्षा', 'लोक-

रञ्जन', 'धर्म-शासन', 'राज-शासन', 'मत-शासन' आदि के आधार यही मनोविकार हैं। इन मनोविकारों का समाज में उपयोग तथा दुरुपयोग दोनों किए गए हैं। जैसे 'लोक-कल्याण' के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए मनोविकारों को संघटित कर सुन्दरतम का रूप दिया गया, वहीं समाज में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ मनोविकारों के आधार पर साम्प्रदायिकता को जन्म दिया गया।

शासन की समस्त व्यवस्थाओं में जैसे 'धर्म-शासन', 'राज-शासन', 'सम्प्रदाय-शासन' आदि के अन्तर्गत लोभ और भय नामक मनोविकारों का पूर्ण प्रसार पाया जाता है। मनुष्य को स्वर्ग तथा नरक का लोभ और भय दिखा कर धर्म-शासन की व्यवस्था की गई, राजा के दंड का भय और कृपा का लोभ दिखाकर राज-शासन की व्यवस्था हुई। समाज में इस प्रकार के शासक वर्ग और धर्म प्रवर्त्तकों के वर्गों ने अनेक प्रकार से मनुष्य के भावों का यथा अवसर उपयोग और दुरुपयोग किया है। शुक्ल जी भाव-क्षेत्र को अत्यन्त पवित्र-क्षेत्र मानते हैं। उसका इस प्रकार उपयोग करना उनकी दृष्टि में संसार के प्रति एक अपराध है।

शासन, मनुष्य को किसी कार्य के करने अथवा रोकने के लिए केवल बाहरी नियमों और विधानों से काम लेता है। मूल प्रवृत्ति और निवृत्ति जगाने की शक्ति कविता में रहती है, वही धर्म के क्षेत्र में भक्ति-भावना उत्पन्न करती है। शुक्ल जी भक्ति को 'धर्म की रसात्मक अनुभूति' मानते हैं। इस रागात्मकता के प्रसार के आधार पर मनुष्य संसार के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। इसके लिए अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है तभी मानव अपने सुख और आनन्द को संसार के सुख और आनन्द के साथ एकाकार कर देता है। समस्त चराचर पेड़, पौधे, पशु-पक्षी, प्राणी मात्र के भाव उसके हो जाते हैं। कविता का मूल उद्देश्य इसी रागात्मक सम्बन्ध को स्थापित करने का है। सच्चे कवियों की वाणी मनुष्य को सदा इसी स्तर तक पहुँचाने में प्रयत्न शील रही है।

मनुष्य के हृदय में साहस के साथ आनन्द की जो उमङ्ग रहती है

वह उत्साह कहलाती है। दुख के क्षेत्र में जो भय की स्थिति है वही आनन्द के क्षेत्र में उत्साह की है। कार्य करने में पूर्ण तत्परता और आनन्द का अनुभव उत्साह का मूल लक्षण है। उत्साह में हानियाँ और कष्ट सहने के लिए मनुष्य तैयार रहता है। इस कष्ट और हानि के भेद को ध्यान में रख साहित्य-शास्त्रियों ने उत्साह के भेद—युद्ध-वीर, दान-वीर, दया वीर आदि किए हैं। कष्ट और हानि के साथ आनन्द पूर्ण प्रयत्न भी अपेक्षित है। शुक्ल जी की दृष्टि से 'धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।' उदाहरार्थ दान वीरता की उच्चता दानी के आर्थिक-जीवन की कठिनाई के अनुभव, तत्परता तथा आनन्द के साथ मानी जाती है। युद्ध के अतिरिक्त, अनुसन्धान के लिए बर्फ से ढके पर्वतों पर चढ़ना, रेगिस्तान और जंगली जातियों के जंगल पार करना आदि भी उत्साह कहलाता है।

उत्साह

उत्साह के क्षेत्र की व्यापकता स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं कि शारीरिक कष्ट के अतिरिक्त मानसिक कष्ट की सम्भावना में भी कार्य में लगा रहना उत्साह ही है, इसी आधार पर बहुत से लोग संसार का ध्यान न कर सामाजिक कुरीतियाँ दूर करने के लिए तैयार हो जाते हैं, परन्तु केवल नाम प्राप्ति के लिए, परिणाम के शुभ अशुभ का ध्यान न रख जो ऐसे कार्य करते हैं, उन लोगों का उत्साह कोई मूल्य नहीं रखता। समाज में समाज सुधार के आदर्श को सामने रख जहाँ अनेक उच्च व्यक्ति दिखाई देते हैं वहाँ केवल ढकोसला करने वाले भी रहते हैं। शुक्ल जी के अनुसार साहित्य में भी 'सुधार' के नाम पर इसी प्रकार की अनेक बातें फैली हुई हैं। मनुष्य को कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति लीन रखने वाला उत्साह सुन्दर माना जाता है। अकर्त्तव्य-कर्मों के प्रति उत्साह श्लाघ्य नहीं।

साहसिक कार्यों के अतिरिक्त, केवल धर्म मात्र के करने में जो तत्परता आनन्द सहित रहती है वह भी उत्साह कहा जाएगा जैसे किसी मित्र के आने पर उठ कर आगे आना, प्रसन्न मुख दिखाई देना, उसके

ठहरने आदि की व्यवस्था करना, उत्साह ही है। उत्साही, कर्मवीर कहा जाए अथवा बुद्धिवीर इस बात को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी लिखते हैं—"हमें यह देखना चाहिए कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि व्यापार के अवसर पर होती है या बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में" परन्तु जैसा ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि उत्साह की अभिव्यक्ति उद्योग की तत्परता में ही होती है इसलिए उत्साही को कर्मवीर कहना उपयुक्त होगा। उत्साह में मनुष्य का ध्यान आदि से अन्त तक कर्म क्षेत्र से होता हुआ उसके फल तक चला जाता है। व्यक्ति अथवा वस्तु से उसका सम्बन्ध नहीं रहता कर्म करने की भावना उत्साह उत्पन्न कराती है जिसमें साहस और आनन्द का सम्मिश्रण रहता है।

शुक्ल जी कर्म करने के आनन्द को तीन रूपों में विभाजित करते हैं—(१) कर्म भावना से उत्पन्न, (२) फल भावना से उत्पन्न, (३) आगन्तुक अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त आनन्द। सच्चे वीरों के आनन्द में कर्म भावना ही रहती है, उसकी दृष्टि में कर्म और फल में कोई अन्तर नहीं रहता। जितना अधिक कर्म भावना से प्रेरित किया हुआ आनन्द होगा उतना ही मनुष्य में साहस और वीरता झलकेगी। फल भावना का आनन्द, फल की सफलता तथा असफलता के साथ घटता बढ़ता जाता है। फल प्राप्त न होने पर फल मात्र से उत्सुक रहने वाला उत्साही दुखी हो जाता है, परन्तु यह बात कर्मासक्त उत्साही में नहीं दिखाई देती। इसी कारण आचार्य कर्म-भावना-प्रधान उत्साह को सच्चा उत्साह मानते हैं।

उत्साह में फल और कर्म की मिली हुई अनुभूति रहती है जिसकी प्रेरणा से मनुष्य कार्य करने के लिए तत्पर होता रहता है। फल-भावना का सम्बन्ध रहने पर ही मनुष्य आगे बढ़ता है परन्तु फल पर दृष्टि रखना ही पर्याप्त नहीं, कर्म पर ध्यान रख कर ही फल प्राप्त किया जा सकता है। प्रयत्न, कर्म-रुचि से युक्त होना अति आवश्यक है। कर्म में रुचि न रहने पर ही मनुष्य अपने प्रयत्नों में धोखा खा जाता है। आचार्य के

मतानुसार मनुष्य का ध्यान प्रस्तुत वस्तु अर्थात् कर्म जो सामने रहता है उसी पर प्रमुख रूप में रहना चाहिए। सामाजिक जीवन की उपयुक्तता स्पष्ट करते हुए आप कहते हैं कि जो मनुष्य उत्साह के साथ आनन्दपूर्वक कार्य करता चलता है उसे यदि फल प्राप्त भी न हो परन्तु उसकी अवस्था उस मनुष्य से बहुत अच्छी रहेगी जिसने कोई कर्म ही न किया हो, क्योंकि कर्म या प्रयत्न अवस्था में उसे आनन्द बना रहेगा और अन्त में भी वह सन्तुष्ट रहेगा कि उसने कर्म किया था। फल की प्राप्ति अनुकूल किए हुए प्रयत्नों पर निर्भर रहती है। प्रयत्न क्या है इसे स्पष्ट कर आप लिखते हैं, "बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परम्परा का नाम है" अतः बुद्धि द्वारा निश्चित कर मनुष्य जिन कार्यों की ओर प्रेरित होता है वे ही प्रयत्न कहलाते हैं और जैसा अभी कहा गया फल इन्हीं अनुकूल प्रयत्नों पर आश्रित रहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य यदि प्रयत्न करने में भी सफल नहीं होता, फिर भी उसे आत्म सन्तुष्टि रहती है।

कर्मण्य वे व्यक्ति कहलाते हैं जो कर्म में आनन्द का अनुभव करते हैं। धार्मिक और उदार प्रकृति वाले व्यक्तियों में अपने किए हुए कर्म में ही आनन्द की प्राप्ति का अनुभव होता है। फल का उसकी दृष्टि में बहुत मूल्य नहीं रहता।

यदि मनुष्य का चित्त उत्साही रहता है तो वह अन्य विषयों में भी उत्साह दिखाता है। यहाँ मूल कारण अन्य होते हुए भी वह दूसरे कार्यों में उत्साही प्रतीत होता है। यदि मनुष्य की कोई बड़ी इच्छा पूर्ण हो जाती है तो जो अन्य काम उसके सामने आता है उसमें भी वह हर्ष और तत्परता दिखाता है, जिसे उत्साह ही कहा जाता है। यह बात उत्साह के अतिरिक्त अन्य मनोविकारों में भी पाई जाती है जैसे क्रोध की स्थिति में यदि कोई बीच में आ जाए तो मनुष्य उस पर भी अकारण झुंझला पड़ता है। अतः यदि मन प्रसन्न और उत्साही है तो अनेक काम प्रसन्नता-पूर्वक और उत्साह के साथ किए जा सकते हैं।

व्यक्ति विशेष में विशिष्ट गुण और शक्ति को देख एक विशेष भाव

उत्पन्न होता है शुक्लजी के शब्दों में एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित होती है उसे श्रद्धा कहा जाता है। मनुष्य विशिष्ट गुण को आनन्दपूर्वक स्वीकार करता है। किसी परोपकारी सज्जन को देख आदर का भाव आता है, उसकी निन्दा सुन चोट पहुँचती है। यह बात स्वभाविकतः रहती है, मनुष्य संसार के किसी भी प्राणिमात्र में यह विशिष्टता देख श्रद्धा करता है।

श्रद्धा-भक्ति

श्रद्धा और प्रेम में विशेष अन्तर रहता है। श्रद्धा का कार्य क्षेत्र विस्तृत रहता है प्रेम में एकान्ता रहती है। प्रेम किसी की शारीरिक सुन्दरता देखकर भी हो जाता है पर श्रद्धा के लिए विशिष्टता आवश्यक है। प्रेम करने वाले एक दो ही हो सकते हैं पर श्रद्धा करने वाले हज़ारों क्या लाखों भी मिल जाएगे। श्रद्धा के आधार से कर्मों को महत्व दे, धर्म की स्थिति सामने आती है। किसी के आदर्श युक्त कर्मों को स्मरण करने के लिए कर्त्ता को स्मरण रखना आसान रहता है। यही संसार में मनुष्य मात्र के लिए सत् वृत्तियों के आकर्षण का केन्द्र स्थल हो जाते हैं। जैसा अभी कहा गया श्रद्धा में कर्म पर अधिक ध्यान दिया है उसका क्षेत्र संसार में फैला रहता है। प्रेमी अपने स्वप्न लोक में प्रिय के साथ विचरण कर सकता है परन्तु श्रद्धा करने वाला अपने पात्र के कार्यों का विवरण विस्तृत संसार में आँकेगा इसी कारण आचार्य लिखते हैं "यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है" (चिन्तामणि पृष्ठ १८) प्रेम में प्रिय और प्रेमी दो पक्ष रहते हैं, परन्तु श्रद्धा में श्रद्धालु, श्रद्धेय और कर्म तीन पक्ष अनिवार्य हैं। प्रेमी अपने प्रेम का कारण नहीं जानता परन्तु श्रद्धालु को यह स्पष्ट रहता है। श्रद्धा में कर्म प्रधान रूप से रहता है और प्रेम में व्यक्ति विशेष। श्रद्धा कर्मों द्वारा व्यक्ति तक पहुँचती है और प्रेम व्यक्ति द्वारा उसके कर्मों को देखता है। यह स्पष्ट ही है क्योंकि किसी के कर्मों को देख हमारे मन में व्यक्ति के लिए श्रद्धा उत्पन्न होती है तब व्यक्ति सामने आता है इसके विपरीत प्रेम व्यक्ति से होकर फिर उसके कार्यों पर दृष्टिपात करता है। श्रद्धालु, श्रद्धेय के प्रति कोई अधिकार की भावना नहीं रखता लेकिन प्रेमी अपने प्रिय पर पूरा पूरा अधिकार रखने का प्रयत्न करता है।

आचार्य श्रद्धा को व्यक्तिगत स्वार्थभाव न मान एक सामाजिक भाव मानते हैं और प्रेम पूर्ण रूप से स्वार्थमयी व्यक्तिगत भावना पर आधारित रहता है। श्रद्धा की व्यापकता अपने भाव के साथ संसार को लेकर चलने की पक्षपालिनी होती है, यदि हम किसी के प्रति श्रद्धा रखते हैं तो यही इच्छा होगी कि संसार के अन्य मनुष्य भी श्रद्धा करें परन्तु प्रेम का क्षेत्र इतना व्यापक कभी नहीं होता प्रेमी कभी नहीं चाहता कि वह जिस पर प्रेम करता है संसार के अन्य व्यक्ति भी उससे प्रेम करें।

श्रद्धा से सम्बन्धित कृतज्ञता के सम्बन्ध में शुक्लजी का विचार है कि श्रद्धा की उत्पत्ति तभी होती है जब संसार के सामान्य आदर्शों की स्थापना हमारे हृदय में होती है। व्यक्तिगत उपकार के प्रति जो भाव उत्पन्न होता है उसे कृतज्ञता कहा जाता है और सर्व सामान्य के प्रति किया हुआ उपकार से उत्पन्न भाव श्रद्धा के अन्तर्गत आता है। उपर्युक्त पंक्तियों से यह पूर्ण स्पष्ट है कि श्रद्धा में दूसरे के महत्व को स्वीकार करना अति आवश्यक है अतः स्वार्थियों और संकुचित विचार वालों के हृदय में यह पवित्र भाव दिखाई नहीं देता।

आचार्य श्रद्धा को तीन भागों में विभाजित करते हैं:—

(१) प्रतिभा-सम्बन्धिनी।

(२) शील-सम्बन्धिनी।

(३) साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी।

प्रतिभा सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में गुण ग्राहकता और निपुणता अनिवार्य है इसी कारण आप समाज में रुचि संस्कार पर जोर देते हैं जिसके द्वारा मनुष्य किसी कला कृति के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट कर सकता है। शील सम्बन्धिनी श्रद्धा को शुक्ल जी प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य स्वीकार करते हैं। सदाचार के प्रति श्रद्धा दिखा मनुष्य समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। श्रद्धा के सम्बन्ध में यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि श्रद्धा के मूल में सर्व सामान्य के हित के भाव निहित रहते हैं, जो धर्म का आधार स्तम्भ है इसी कारण आप "श्रद्धा को धर्म की पहली सीढ़ी मानते हैं।" और कर्म उसके आगे की सीढ़ी कही गई है। मनुष्य किसी उच्च आदर्शवान व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रख कर

ही आगे कार्य करने को प्रेरित होता है। साधन-सम्पन्नता का तात्पर्य है विशेष प्रयत्न अथवा योग्यता, इस सम्बन्ध में दिखाई गई श्रद्धा प्रयत्न के प्रति ही होती है, प्रयत्न की पूर्णता अथवा कला के प्रति जो हृदय पर प्रभाव डालता है उसके प्रति नहीं होती। उदाहरार्थ विलक्षण चित्रकारी और कारीगरी को देख प्रयत्न ही सराहा जाता है उससे कला का आदर्श सम्पूर्ण नहीं होता है। यही बात संगीत और कविता के क्षेत्र में भी कही जा सकती है। संगीतज्ञ अभ्यास के बल पर संगीत कला की आत्मा और साहित्याचार्य अलकारों की योग्यता के द्वारा कविता की आत्मा का हनन करने लगते हैं। इस प्रकार की साधन-सम्पन्नता का उपयोग भी होता है और दुरुपयोग भी, लेकिन यह अनुपयोगी साधन-सम्पन्नता भले ही मनुष्य की तुष्टि मान ली जाए संसार का रंजन उससे नहीं होता। श्रद्धान्धता को शुक्ल जी 'मानसिक स्तन्धता' कहते हैं, जिसका कारण आप बताते हैं कि मनुष्य का अन्तः करण एक है उसकी दो विरोधी स्थितियाँ नहीं हो सकती अर्थात् यदि किसी को शारीरिक शक्ति के प्रति श्रद्धा है तो उसकी शक्ति का दुरुपयोग देख कर भी उसके कार्यों के कारण श्रद्धा बनी रह सकती है। यह श्रद्धान्धता जब शील-सदाचार चेतना को नष्ट कर देती है तभी समाज के लिए हानिकारक बन जाती है। शुक्ल जी के दृष्टिकोण से शील कला, साधन सम्पत्ति श्रद्धा के इन तीन विभागों में से जन साधारण के लिए शील का ध्यान अनिवार्य है क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति की रक्षा बन पड़ती है।

श्रद्धा की आवश्यकता के सम्बन्ध में आपका विचार है कि दूसरों की श्रद्धा मनुष्य के कार्यों को सुगम कर देती है, उसमें आगे बढ़ने का साहस उत्पन्न हो जाता है एक निश्चय जन्म ले लेता है इसका अनुचित प्रयोग भी यदा कदा समाज में दिखाई दे जाता है। अनेक व्यक्ति स्वार्थ साधने के लिए शुभ-गुणों का झूठा अनुकरण कर संसार को धोखा देने में प्रयत्न शील रहते हैं। पर श्रद्धा का व्यसन भी आदमी को पड़ जाता है वे ऊपरी आडम्बरों द्वारा अपने नाम को प्रमुखता देते हुए सदा श्रद्धा बनाए रखने का प्रयत्न किया करते हैं। श्रद्धा और प्रेम को स्पष्ट कर यह

दिखाया जा चुका है कि श्रद्धालु का ध्यान कर्म पर रहता है तथा उसमें और श्रद्धेय में कोई निजी सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं। वह अपने द्वारा कोई परिवर्तन उपस्थित नहीं करता जो उसके लिए लाभप्रद हो। यहाँ तो समझ बूझ कर श्रद्धेय के कर्म और गुण देखकर श्रद्धा की जाती है। यह बात पूर्ण रुपेण सत्य है कि श्रद्धालु की श्रद्धा द्वारा श्रद्धेय को उत्साह प्राप्त होता है अतः स्वार्थ वश यदि श्रद्धेय के प्रति अश्रद्धा प्रगट की जाए तो वह समाज के लिए अनिष्टकारी सिद्ध होती है।

श्रद्धा को आचार्य तीन भेदों में स्पष्ट कर चुके हैं—शील, प्रतिभा और साधन सम्पन्नता। इन तीनों से समाज के किसी न किसी अंग के विकास की सम्भावना रहती है। श्रद्धेय इन स्थितियों की रक्षा करता है और समाज उसकी रक्षा का विधान किया करता है। इसी कारण जनता द्वारा श्रद्धा का दान श्रद्धेय को शक्तिशाली बनाता है जो समाज के लिए मंगलकारी है। इसी उपयोगिता के कारण श्रद्धा वश दिए दान का हमारे धर्म क्षेत्र में इतना उच्च महत्व दिया गया है।

श्रद्धा जब प्रेम से सम्मिलित हो जाती है तभी भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। श्रद्धेय के प्रति पूज्य भाव के अतिरिक्त जब मन में उसके प्रति

भक्ति

घनिष्टता के भाव उदय होने लगते हैं, उसका बोलना, हँसना, चलना, फिरना आदि अच्छा लगने लगता है, जब हम अपने जीवन का अंश उसे अर्पित करना चाहते हैं और अपने जीवन पर उसका प्रभाव देखने लगते हैं तभी भक्ति को जन्म मिलता है। भक्त अपने जीवन क्रम का कुछ अंश व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर अपने देव को अर्पित करने को तत्पर रहते हैं। इसी को 'आत्म निवेदन' कहा जाता है।

श्रद्धा के अन्तर्गत श्रद्धालु, श्रद्धेय को अपने जीवन से उपार्जित केवल कोई वस्तु ही अर्पित करने में समर्थ होता है, परन्तु भक्त बन जाने पर वह अपने जीवन का अंश तक, जीवन तक अर्पित करने को तत्पर हो जाता है। भक्त अपने श्रद्धेय की बातों और महत्व को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न कर सकता, जिससे स्पष्ट है कि श्रद्धा में जहाँ केवल महत्व

स्वीकृति मात्र रहता है वहाँ भक्त उसे ग्रहण करने आगे बढ़ता है। आचार्य गुरु गोविन्दसिंह का उदाहरण दे स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार उन्होंने अपने भक्तों की भक्ति से शक्ति ग्रहण कर समाज का कल्याण किया, यह बात केवल श्रद्धा में पूर्ण नहीं हो सकती थी। भक्ति में दैन्य भाव प्रधान रूप से रहता है, जहाँ श्रद्धेय के महत्व और अपने लघुत्व को स्वीकार किया जाता है। भक्त धीरे-धीरे अपने श्रद्धेय से सम्बन्धित महत्व की बातों को अपने में प्रसारित देखना चाहता है और उसके विपरीत तथ्यों को रोकने का प्रयत्न करता है।

मनुष्य को शून्य एवं नीरस सिद्धान्त व्यर्थ प्रतीत होते हैं। मन उनकी ओर आकर्षित नहीं होता। मन को आकर्षित करने के लिए 'अनुभूति' आवश्यकीय है। कोरे सिद्धान्त और गुण, मन को कार्य करने अथवा रोकने को प्रेरित नहीं कर सकते। इनका सौन्दर्य मनुष्य के जीवन में ही प्रस्फुटित होता है। जैसा अभी कहा गया मन सिद्धान्त अथवा गुण वाचक शब्दों को ग्रहण नहीं करता वह तो प्रत्यक्ष शील तथा शक्ति, उसके परिणामों के सौन्दर्य को देख रमता है। अतः ऐसे चरित्रों का सम्पर्क सत् की ओर अग्रसर होने वाले व्यक्तियों के लिए सदा इष्टकारी होता है। शुक्ल जी इष्ट का यह सम्पर्क बाहरी और भीतरी दोनों रीतियों से सम्पन्न करना बताते हैं—श्रवण, कीर्तन और स्मरण इसके विधान माने गए हैं। इष्ट के कर्म क्षेत्र में स्वभावतः विरोधी भी आ जाया करते हैं, इष्ट और उसके विरोधी में ही भक्त प्रवृत्ति और निवृत्ति का मार्ग पाता है, इसी कारण आप राम के साथ रावण को उपयोगिता बताते हैं। रावण, राम के महत्व को बढ़ा, प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्ग को साथ लिए चलने में सहायक होता है। यहाँ एक बात स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है कि दुराचारी के प्रत्यक्ष फल के विपरीत आभ्यान्तर फल का परिणाम सामाजिक उपयोगिता को नष्ट कर देता है। इसी कारण श्री कृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया। धर्म-न्याय की नींव पापी के पाप के फल पर ही दृढ़ होती है। लोक-रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है।

अन्याय देख उसे नष्ट करने के लिए प्रवृत न होना कायरता मानी जाएगी।

मानव के अन्तःकरण में पाई जाने वाली समस्त वृत्तियाँ अत्यन्त उपयोगी हैं। अन्तः करण की सार्थक उपयोगिता पर ही मनुष्यता आधारित रहती है, वृत्तियों की उपेक्षा कर मानव अपनी मनुष्यता तक खो सकता है। इस तथ्य के आधार पर भगवद्भक्ति में इनका क्षेत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनुष्य, ईश्वर में अपने ही कर्मों और मनोभावों की पूर्णता स्थापित करता हुआ उसे अपने से श्रेष्ठ समझता है। मानव के अन्तः करण में पाई जाने वाली वृत्तियाँ—दया, धर्म, प्रेम, कर्म आदि को ईश्वर में देख उसकी भक्ति करता है और वैसा ही अपने जीवन-व्यवहार में लाने का प्रयत्न करता है। यहाँ स्वानुभूति द्वारा मानव व्यवहार-पथ में आश्रय-प्राप्ति के लिए ईश्वर में धर्म-भाव की स्थापना करता है। यह अभी कहा गया है कि मानव, ईश्वर में अपने मनोभावों की झलक देखता है, भक्ति हृदय की वस्तु है अतः मानव भगवान में जब अपने मन की भावनाओं का पूर्ण प्रकाश देखता है तभी उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए अग्रसर होता है। यह अग्रसरता-सामीप्य लाभ ही है जिसका वर्णन विशद रूप से नवधा-भक्ति विधान में किया गया है। रामलीला तथा कृष्ण लीला भी इसी विधान के अन्तर्गत आते हैं। प्रत्येक वर्ष इन लीलाओं में हम भगवान के सामीप्य-लाभ का अनुभव उठा, उनके जीवन में अपने जीवन की पूर्णता देख, हम उन्हें निकटतम आत्मीय समझने लगते हैं। शुक्ल जी के विचारानुसार इन कार्यों की निकटता ने हिन्दू जाति को शक्ति प्रदान कर अपना अस्तित्व राजनैतिक और धार्मिक थपेटों से बचाए रखने में दिया। इस उदाहरण के आधार पर आप हिन्दू-ध ' क्षेत्र की एक बात स्पष्ट कहते हैं कि हमारे धर्म में अपने जीवन द्वारा कर्म सौन्दर्य संघटित करने वाले अवतार ही माने गए हैं। ये कोरे उपदेशक नहीं प्रत्युत जीवन व्यवहार की विषमताओं के बीच सात्विक भावों का उदय इनके द्वारा हुआ है। इसका एक कारण और भी है जीवन व्यवहार में राग द्वेषों के दमन के विपरीत परिष्कार अधिक महत्व

रखता है। यह परिष्कार जीवन पथ का अनुसरण कर ही अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है।

कर्म-सौन्दर्य की विभिन्नता शास्त्र जीवन में ही पूर्ण-रुपेण प्रस्फुटित होती है। कर्म-सौन्दर्य ही संसार के व्यक्तियों के निकटतम रहता है, इसी कारण हमारे अवतार राम और लक्ष्मण क्षत्रिय हैं। उनके चरित्र में जहाँ शक्ति है वहाँ क्षमा भी है, जहाँ वैभव है वहाँ विनय भी है, जहाँ तेज है वहाँ कोमलता भी है, इसी कारण उनका आकर्षणक व्यापक तथा स्पष्ट है, जिनके प्रभाव द्वारा मानव अपनी रागात्मक वृत्तियों को उन्नत करने में सहायक होता है।

मनुष्य के दूसरों के दुख के परिज्ञान मात्र से जो दुख होता है वह करुणा, दया आदि कहलाता है। करुणा दुख का एक भेद है, जैसे ही बालक सम्बन्ध ज्ञान का अनुभव करने लगता है वैसे ही *करुणा* यह भाव उत्पन्न होने लगता है। बालक स्वाभिकता अपने अनुभवों को दूसरों पर आरोपित करता है तथा सम्बन्ध के आधार पर दूसरों को दुःख का कारण और कार्य देख स्वयं दुःख का अनुभव करता है, यही करुणा कहलाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है मनुष्य उसकी भलाई करना चाहता है, मानव प्रवृत्ति के विचार से करुणा का विपरीत क्रोध होता है। क्योंकि जिसके प्रति क्रोध रहता है मनुष्य उसको हानि पहुँचाना चाहता है। शुक्ल जी समान भावों का विश्लेषण कर यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि प्रसन्न होकर तथा दुखी हो कर दोनों रूपों में भलाई की जाती है, परन्तु अन्तर केवल इतना है कि आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई मनोविकार नहीं होता जो पात्र की हानि के लिए उत्तेजित करे, परन्तु भलाई की श्रेणी में करुणा एक ऐंसा शुद्ध मनोविकार है जो भलाई के लिए उत्तेजित करता है। लोभ को आपने आनन्द की श्रेणी में रखा है, जिस वस्तु के प्रति लोभ होता है मनुष्य कभी उसको हानि नहीं पहुँचाता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः वह स्वभावता ही दूसरों के

दुख से दुखी और सुख से सुखी ही हुआ करता है। हमारे जीवन का बहुत सा दुख-सुख हमारे सम्बन्धों के कारण दूसरों का दिया हुआ होता है। यहाँ जीवन में पूर्ण रूपेण यह देखा जाता है कि मानव जितना दूसरों के दुख से दुखी होता है उतना उसके सुख से सुखी नहीं होता। अतः यह स्पष्ट है कि करुणा प्राप्ति के लिए दुख के अतिरिक्त और किसी की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु आनन्द अथवा सुख के लिए पात्र का सुहृदय अथवा सम्बन्धी होना अनिवार्य है। यद्यपि जैसा ऊपर कहा गया है कि मनुष्य स्वभावतः दूसरों की अपेक्षा अपने के दुख से अधिक दुखी होता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। अतः करुणा की तीव्रता को शुक्ल जी "जीवन निर्वाह की सुगमता और कार्य विभाग की पूर्णता का विधान" स्वीकृत करते हैं। करुणा एक शुभ तथा सात्विक भाव है। जीवन-व्यवहार द्वारा यह स्पष्ट ही है कि करुणा दुख दूर करने के लिए सदा प्रयत्न शील रहती है। दूसरे के दुख से दुखी होना, उसे दूर करने का प्रयत्न करना आदि शील और सात्विकता के लक्षण हैं इसी कारण आचार्य करुणा को "मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि संस्थापक" मानते हैं। कृपा भी करुणा के समान दूसरों के दुख को दूर करने के लिए प्रयत्नशील बनाती है। परन्तु जहाँ करुणा में केवल दुख को दूर करने पर ध्यान रहता है, वहाँ कृपा में आत्मवाद प्रमुख रूप में रहता है। मानव जीवन का उद्देश्य सुख की प्राप्ति और दुख की निवृत्ति मुख्य रूप में रहती हैं, उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि करुणा इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होती है। इसी कारण यह जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यकीय मानी गई है। जिसके हृदय में करुणा होगी वह कभी दूसरों को दुखी नहीं कर सकता। इस बात का वह अपने आचरण में सदा ध्यान रखता है। सात्त्विक, शीलवान चरित्र-निर्माण के लिए करुणा अति आवश्यकीय है। भावों के विश्लेषण में यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि कर्मों के प्रवर्तक भाव ही रहते हैं। अतः जीवन की सदाचारिता के लिए जितना इन भावों (करुणा, दया) का महत्व है उतना नियमों का नहीं रहता। करुणा, श्रद्धा को भी जन्म देती है। यदि कोई

व्यक्ति किसी पर करुणा करता है तो देखने वाला अवश्य उस पर श्रद्धा करेगा, और जैसा श्रद्धा के विशेषण से स्पष्ट है कि श्रद्धा का विषय सात्विकता और शीलता रहता है। इस कारण इन गुणों की अभिवृद्धि कराने के लिए करुणा का विशेष महत्व है।

अपने प्रिय के वियोग में भी करुणा का अंश रहता है, करुणा का विषय यहाँ अपने प्रिय के सुख की अनिश्चयता के कारण रहता है। ज्ञानवादी अनिश्चत बात पर दुखी अथवा सुखी होना अज्ञान बताते हैं, इसी को प्रान्तीय भाषाओं में मोह कहा जाता है। मनुष्य अपने संसार का क्षेत्र स्वयं निर्मित करता है। वह जितने लोगों के सम्पर्क में आता है उनके प्रति घनिष्ठता और प्रेम उत्पन्न कर लेता है। इस निर्मित संसार का यदि कोई अंश दूर हो जाता है, तो स्वभावितः ही उसके हृदय में शोक; करुणा और दया का प्रादुर्भाव होता है।

सामाजिक जोवन में करुणा की उपयोगिता देख स्पष्ट ही है कि सामाजिक-जीवन को पुष्ट करने के लिए करुणा का प्रसार अति आवश्यक है। आचार्य पाश्चात्य विद्वानों से सहमत नहीं जो कहते हैं कि सामाजिक जीवन से सहायता का आधार आत्मरण रहतो है, उनकी दृष्टि से करुणा ही इसका मूल है क्योंकि जीवन व्यवहार में यह ही देखा जाता है कि मनुष्य कमज़ोर की मदद करने को तत्पर रहता है। बलवान पर उसका ध्यान नहीं रहता। करुणा का एक हलका रूप सहानुभूति रहता है। शुक्ल जी सहानुभूति उसे कहते हैं "वह वेग रहित दुख जो अपने परिचितों के थोड़े से क्लेश या दुख पर होता है" करुणा में अन्य मनोभावों के समान आदान-प्रदान की बात नहीं रहती अर्थात् करुणा करने वाला यह नहीं चाहता कि जिस पर उसने करुणा की वह भी उसका प्रतिकार करे।

आचार्य 'मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में, मानव जीवन की सजीवता स्वीकृत करते हैं। आज की सभ्यता का आवरण मानव के मनोवेगों के सच्चे रूप का निर्वाह कठिन करती जाती है। परन्तु इनका नष्ट करना समाज के लिए मानव के लिए अहितकारी है। स्मृति और अनुमान को आप केवल भावों का सहायक मानते हैं, इसी कारण व्यव-

हार में मनोवेगों के न रहने पर स्मृति, अनुमान और बुद्धि के रहते हुए भी मनुष्य जड़वत हो जाएगा। कभी कभी यह भी देखने में आता है कि यदि लगातार मनोवेगों के प्रतिकूल कार्य किया जाता है तो कालान्तर में मनोवेग नष्ट प्रायः हो जाते हैं। शुक्ल जी व्यवहारिक जीवन में मनोवेगों का विरोध पाया जाना तीन बातों में बतलाते हैं। वे तीन बातें हैं—(१) आवश्यकता, (२) नियम, (३) न्याय। नियम अथवा न्याय के वशीभूत हो कर कभी कभी मनोवेगों के अनुसार परिणामों का भेद पाया जाता है। करुणा प्रदर्शित करने में व्यक्ति को थोड़ा बहुत त्याग अवश्य करना पड़ता है इसी कारण शुक्ल जी लिखते हैं 'करुणा सेंत का सौदा नहीं, यहाँ करुणा प्रगट कर व्यक्ति को अवश्य कुछ त्याग करना पड़ेगा।

मनुष्य समाज के बीच रहता है। अपने विषय में उसे दूसरों के विचारों और धारणाओं का बहुत ध्यान रहता है। इसी आधार पर लज्जा की उत्पत्ति होती है। शुक्ल जी लज्जा की परिभाषा देते हुए लिखते हैं "दूसरों के चित्त में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने का निश्चय या आकांक्षा-मात्र से वृत्तियों में जो सकोच होता है उसे लज्जा कहते हैं। "परिमाण से स्पष्ट है कि लज्जा का कारण दूसरों का निश्चय या अनुमान होता है। इस अनुमान अथवा निश्चय के लिए कभी कभी यह भी देखा जाता है कि यदि मनुष्य अपने को बुरा नहीं समझता, दूसरे भी उसके सम्बन्ध में बुरा विचार नहीं रखते हैं, परन्तु यदि वह स्वयं अनुमान करने लगा है कि सामाजिक आचरणों के विरुद्ध उसके चरित्र में दूसरों ने कोई नई बात देख ली है, तो वह लज्जा का अनुभव करने लगता है।

लज्जा और ग्लानि

लज्जा जहाँ दूसरे की भावना का स्वयं के सम्बन्ध में विचार करती है वहाँ ग्लानि के लिए आचार्य का मत है "अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं।" सात्विक वृत्ति वाले की आत्मप्रतारणा ही ग्लानि है। दूसरों से दूर रह मनुष्य लज्जा से बच सकता

है परन्तु ग्लानि तो प्रत्येक स्थिति में मनुष्य को प्रताड़ित करती रहती है। ग्लानि के अनुभव से मनुष्य अपना अन्तःकरण शुद्ध कर सकता है क्योंकि ग्लानि के अनुभव द्वारा ही मनुष्य यह समझ पाता है कि "वह बुरा है", तभी वह अच्छा बनने का प्रयत्न करता है। लज्जा, जो दूसरों के अनुमान पर मानी जाती है, उसे मनुष्य छिपा भी सकता है। लेकिन मनुष्य को अपनी अशुभ वृत्तियाँ छिपाना अत्यन्त हानिकारक होता है, इससे तो उनका प्रगट होकर लज्जा के अनुभव द्वारा दूर करना कहीं अधिक अच्छा कहा जा सकता है। दूसरों के भय से मनुष्य उनकी आँखों से दूर रह सकता है परन्तु अपने से दूर कैसे जाएगा। स्वयं को वह अच्छा लगे इसके लिए तो अच्छा बनना ही सार्थक होगा।

मनुष्य जब बुराई से बचने का संकल्प कर लेता है तब व्यक्तियों के स्वभावों को ध्यान में रख शुक्लजी ने तीन मनोविकार बुराई से बचाने वाले बताए हैं :—

(१) सात्त्विक वृत्तिवालों के लिए ग्लानि।
(२) राजसी वृत्ति वालों के लिए लज्जा।
(३) तामसी वृत्ति वालों के लिए भय।

मनुष्य उनके दुराचार अपने भावों के अनुसार आत्मग्लानि, लोक-लज्जा अथवा भय के कारण करने में हिचकते हैं।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसे जितना अपने कर्मों पर लज्जा का अनुभव होता है उतनी ही अपने सम्बन्धियों के कार्यों पर तथा प्रसङ्ग वश किसी बुरे कार्य में अपना नाम आ जाने के कारण भी। उपर्युक्त लज्जा की परिभाषा से स्पष्ट है कि लजा दूसरों की धारणा पर होती हैं, लेकिन ग्लानि हीनता के अनुभव द्वारा उत्पन्न होती है। मनुष्य जब अपने प्रेम और प्रतिष्ठा का ह्रास देखते हुए भी निराकरण न कर सके और न क्रोध द्वारा प्रतिकार का मार्ग पाए तो उसे हीनता का अनुभव होने लगता है। आचार्य ने भरत की ग्लानि का उदाहरण इसी बात को स्पष्ट करने के लिए दिया है। उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों पर ग्लानि होती है और मध्यम को अपने दुष्कर्म के किए बुरे फल पर। इनमें से

अपमान भी एक रूप है। अकारण अपमान पर होने वाली ग्लानि अपनी तुच्छतर और सामर्थ हीनता के कारण ही होती है। यहाँ आचार्य जीवन-व्यवहार की बात ध्यान में रख यह स्पष्ट कर देते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को इतनी शक्ति सम्पादित कर लेनी चाहिये कि कोई उसका व्यर्थ अपमान न कर सके।

लज्जा के एक हल्के रूप को आचार्य ने संकोच कहा है। मनुष्य को किसी काम के करने के पहले संकोच होता है। इसकी अति, व्यवहारिक दृष्टि से अप्रिय मानी जाती है। संकोच को आचार्य ने मन का आभ्यन्तर प्रतिबन्ध माना है जिसके दो भेद किए हैं—

(१) "विवेचनात्मक जो प्रयत्नसाध्य होता है

(२) मनः प्रवृत्त्यात्मक जो स्वभावज होता है।"

यह दूसरा भेद ही आपकी दृष्टि से सच्चा प्रतिबन्ध है। संकोच का मूल आधार यह है कि जो कार्य मनुष्य करने जा रहा है वह दूसरों को अप्रिय न लगेगा। इसकी अति भी व्यवहारिक दृष्टि में बाधक होती है क्योंकि मनुष्य के सांसारिक व्यवहार मनोभावों के पारस्परिक स्थिति की अनुकूलता पर ठीक प्रकार चल पाते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में लज्जा अधिक मात्र में इसी कारण रहती है कि उनकी धृष्टता का परिचय दूसरों को प्राप्त न हो जाए। स्त्रियों की लज्जा जब सीमा का उलंघन करने लगी तो वह एक विलास की सामग्री बन गई। साहित्य के क्षेत्र को ध्यान में रख आचार्य मुग्धा और मध्या नायिका की लज्जा का अतिशय वर्णन किया जाना इसी कारण समझते हैं।

लोभ और प्रीति

आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में लोभ वह है जब "किसी प्रकार सुख या आनन्द देने वालीवस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति जिससे उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति की इच्छा जाग पड़े।" और प्रेम के लिए आपका विचार है "विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति कहते हैं।" लोभ के दुखात्मक और सुखात्मक दोनों पक्ष रहते हैं। मनुष्य लोभ वश अपनी वस्तु को दूर

नहीं करना चाहता और इसी के वशीभूत हो वह दूसरे की वस्तु प्राप्त करना चाहता है। लोभ सामान्य के प्रति रहता है, प्रीति विशेष के प्रति रहती है। कोई अच्छी चीज सुन उसके प्रति दौड़ पड़ना लोभ का ही कारण होता है लेकिन किसी विशेष पर मुग्ध हो दूसरी सुन्दर वस्तु आने पर भी मन का नहीं हटना—प्रेम है। लोभ से सुख का अनुभव होता है इसीलिए वह आनन्द स्वरूप कहा गया है। इस प्रथम 'संवेदनात्मक अवयव' के साथ शुक्ल जी दूसरा 'इच्छात्मक अवयव' अर्थात् उसकी प्राप्ति करने की इच्छा भी लोभ के लिए आवश्यक बताते हैं।

लोभ के दो अंश हैं :—(१) 'प्राप्ति की इच्छा (२) दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।' यहाँ प्राप्ति के भी दो रूप कहे गए हैं—(१) "इतने सम्पर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो (२) इतने सम्पर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।" संसार में प्रथम के प्रति ही विरोध अधिकार दिखाई देता है और वह भी उस रूप में जब एक दूसरे के स्वार्थ आपस में टकराने लगते हैं। यदि समाज में सब मनुष्यों के लोभ भिन्न भिन्न होते तो यह बात कभी उपस्थित नहीं होती। लोभ के इस आधार को ध्यान में रख शुक्ल जी संसार की स्थिति को स्पष्ट करना चाहते हैं कि किस प्रकार लोभ के वशीभूत होने के कारण प्रेम और धर्म के अन्तर्गत, धन के लोभ ने स्थान ले लिया है। आज की राजनीति में एक देश दूसरे देश को इसी कारण अपने व्यापार लोभ अथवा अन्य प्रकार के धन लोभ के द्वारा नष्ट किया करता है।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि वही लोभ अधिकतर बुरा समझा जाता है, जो दूसरों की सुख और शान्ति में बाधक बनता है, परन्तु जहाँ इच्छा अथवा लोभ एक दूसरे का बाधक नहीं होता, वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रख अनेक व्यक्ति प्रेम पूर्वक रह सकते हैं।

शुक्ल जी के मतानुसार जन्मभूमि का प्रेम तथा स्वदेश प्रेम, स्थान लोभ का ही भाव है। इस लोभ के अतिरिक्त कोरे शब्द स्वदेश प्रेम की दृष्टि से कोई स्थान नहीं रखते। यह बात इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती

है कि मनुष्य जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा करने लगता है उसी प्रकार उसके मन में सान्निध्य द्वारा लोभ और प्रेम के भाव उसमें जाग्रत होने लगते हैं। यह देश-प्रेम के लिए पूर्ण रूपेण सत्य है। देश की वस्तुओं से सम्पर्क जितना बढ़ता जाएगा, देश-प्रेम उतना ही उच्च मात्रा में स्वीकृति किया जाएगा।

वस्तु की प्राप्ति के सम्बन्ध में तो स्पष्ट किया जा चुका है, रहा वस्तु की रक्षा के सम्बन्ध में। शुक्ल जी के मतानुसार रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती है :—

(१) अपने अधिकार में रखने की इच्छा

(२) केवल बने रहने की इच्छा

रक्षा की वह इच्छा जहाँ केवल अपने अधिकार की वासना सीमित मात्र में रहती है, समाज के लिए खटकने वाली बन जाती है और लोभ का वह रूप प्रशस्त माना गया है भाव केवल वस्तु के बने रहने तक सीमित रहती है। यहाँ केवल अपने उपयोग की बात ध्यान में नहीं आती। एक वस्तु केवल एक व्यक्ति विशेष को सुख देती रहे या केवल उसका अस्तित्व रहे इसी को लेकर यह भेद किए गए हैं। प्रथम में केवल हमारे सुख की भावना मात्र रहती है, लेकिन दूसरे में वस्तु की रक्षा का भाव ही स्थायी रहता है।

संकुचित अर्थों में लोभ का अर्थ धन-लोभ से लिया जाता है। किसी भी मनोविकार की सीमा का उल्लंघन तभी स्वीकृत किया जाता है जब अन्य मनोवृत्तियाँ दब जाएँ। लोभ को शुक्ल जी 'स्वविषयान्वेषी' कहते हैं, इसी कारण वह अपनी स्थिति और वृद्धि को स्थिर रखने के हेतु असन्तोष रखने के साथ अन्य वृत्तियों का दमन किया करता है। यह बात अन्य मनोविकारों में नहीं पायी जाती। मनुष्य में धन का लोभ जब मानसिक व्याधि बन जाता है तब वह उसकी उदात्त वृत्तियों को नष्ट कर देता है। मानव अपनी मनुष्यता खो बैठता है। उनके जीवन में लोभ एक मात्र प्रमुख रहता है, क्रोध, करुण, दया, लज्जा आदि भावों का उन पर कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। कच्चे लोभी कभी कभी इन भावों के वशीभूत

हो अपने लोभ से भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु पक्के लोभी तो सदा दृढ़ रहते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी लोभ के अन्तर्गत वस्तु और व्यक्ति दोनों का लोभ लेते हैं। व्यक्ति का लोभ ही प्रेम कहा जाता है। आपके विचार से वस्तु और व्यक्ति के लोभ में विशेष अन्तर रहता है। व्यक्ति के लोभ में वस्तु के लोभ के विपरीत दोनों पक्षों में मनस्तत्त्व का विधान रहने के कारण हैं। यह विशेषता इसी कारण है कि लुब्ध होने वाला और जिस पर वह लुब्ध होता है दोनों के हृदय रहता है। प्रेमी, प्रिय के हृदय में अपने भावों की प्रतिष्ठा चाहता है, धीरे धीरे आकर्षित होते हुए वे एक हो जाते हैं। इस प्रकार उनके जीवन में एक नवीन सजीवता आती है। प्रेम के दो पक्ष होते हैं—एकान्तिक और लोकबद्ध। इस एकान्तिकता में कर्म क्षेत्र से दूर दो व्यक्तियों का संसार रहता है। आचार्य फारसी साहित्य में तथा भारतीय साहित्य के अन्तर्गत गोपियों का प्रेम इसी प्रकार का मानते हैं। प्रेम के दूसरे स्वरूप में कर्म-क्षेत्र व्यापक रहता है। इसका क्षेत्र जीवन-यात्रा के पथ में विस्तृत रहता है। आचार्य के मतानुसार भारतीय साहित्य के प्रबन्ध-काव्यों में इसी प्रेम का विश्लेषण किया गया है। वाल्मीकि, राम और सीता का प्रेम महलों तक सीमित न रख विस्तृत कर्मक्षेत्र में दिखाते हैं। भगवद्भक्ति के लिए आप इसी प्रेम को उपयुक्त समझते हैं इसी के द्वारा संसार की अनेक वस्तुएँ जो प्रिय से सम्बन्धित होती है, प्रिय की बन जाती हैं। मनुष्य इस प्रेम के द्वारा क्रमशः समस्त चराचर से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

प्रेमी और प्रिय के पारस्परिक स्थिति के सम्बन्ध में आचार्य का विचार है कि कहीं प्रेम दोनों में 'सम' रहता है और कहीं पहले एक में उत्पन्न हो फिर दूसरे में उत्पन्न होता है। दूसरों की ओर द्रवित करने वाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ रहती हैं—करुणा और प्रेम। करुणा का पात्र केवल दुख या पीड़ा का प्रदर्शन बन जाता है वहाँ प्रेम के लिए भिन्न-भिन्न बातें आवश्यंकीय होती हैं। इसीलिए प्रेमी कभी अच्छा लगने

और कभी दया दिखाने का प्रयत्न करता है। प्रेम जैसे उत्पन्न करने की जरूरत पड़ती है उसी प्रकार उसे स्थिर रखना भी पड़ता है इसी कारण प्रिय के हृदय में दया केवल तुल्यानुराग तक ही उपत्न्न कर देना आवश्यक नहीं, प्रेम-पथ में सदा उसकी आवश्यकता का अनुभव होता है। आपके मतानुसार यही कारण है कि फारसी शायरी में प्रिय के हृदय में दया बनाए रखने के लिए लम्बी चौड़ी व्यथाओं का वर्णन किया जाता है। तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा होने पर ही प्रेम सफल कहा जाता है। इसी कारण एक पक्ष की प्रीति को आचार्यों ने 'रसाभास' कहा है। जिस प्रेम में आत्मतुष्टि की भावना का आभास नहीं रहता वहाँ प्रेम अपने विशुद्ध रूप में सामने आता है। इस स्थिति में आकर प्रेमी अपने प्रिय से कुछ नहीं चाहता केवल भगवान से कामना करता है कि उसका प्रिय बना रहे। यहाँ प्रिय और प्रेमी एक हो जाता है। प्रिय से सुख-सन्तोष को प्रेमी अपना सुख-सन्तोष समझने लगता है। यदि प्रेमी इस उच्च प्रेम के स्तर पर नहीं पहुँच पाता, तो उसे अनेक मानसिक पीड़ाओं का सामना करना पड़ता है।

अधिकतर प्रेम-काव्यों में प्रेम का कारण प्रिय का रूप, गुण मात्र दिखाया जाता है लेकिन सहचर्य भी प्रेम का एक कारण वन जाता है। साहचर्य-जनित प्रेम में यह विशेषता रहती है कि साहचर्य काल में उसकी उतनी तीव्रता नहीं दिखाई देती जितनी वियोग के अवसरों पर। रूप गुण आश्रित प्रेम भी कालान्तर में साहचर्य-जन्यता धारण कर लेता है। लोभ और प्रेम की यदि कोई विलक्षणता है तो यही कि इस भाव की व्यंजना जहाँ रोकर की जाती है वहाँ हँसकर भी की जाती है। इसी कारण शुक्ल जी के मतानुसार ऐसा कोई अन्य भाव नहीं होता जो आलम्बन के रहने पर एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ उत्पन्न करे और उसके न रहने पर दूसरे प्रकार की। क्रोध और जुगुप्सा में कुछ अंशों में यह बातें अवश्य दिखाई देती हैं पर अन्य भावों में बिल्कुल नहीं रहती। मानव की वृत्तियों पर लोभ और प्रेम का कितना व्यापक विस्तार रहता है? साहित्य के क्षेत्र में इसे समझ शृंगार और 'रसराज' कहा गया।

उपर्युक्त पंक्तियों से जैसा स्पष्ट है कि केवल इसी भाव में हर्ष और विषाद दोनों के भाव आ जाते है। एक ओर जहाँ मनुष्य हर्ष से पुलकायमान दिखाई देता है वहाँ दूसरी ओर वह विषाद से प्रतखिड भी दिखाई देता है, इसी कारण शृंगार, संयोग और वियोग दो पक्षों में साहित्याचार्यों द्वारा विभाजित कर दिया गया है।

मानव-जीवन, संसार के सम्पर्क में जब आने लगता है, तब वह कुछ वस्तुओं में रुचि और कुछ में अरुचि का अनुभव करता है। घृणा इन अरुचिकर वस्तुओं से ही सम्बन्ध रखती है। आचार्य कथानुसार "इन अरुचिकर विषयों के उपस्थित होने पर अपने ज्ञान-पथ से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करने वाला जो दुख होता है उसे घृणा कहते हैं।" घृणा के विषय दो विभागों में विभाजित किए गए हैं—(१) स्थूल (२) मानसिक। स्थूल का सम्बन्ध मनुष्य के आँख, कान और नाक इन तीनों इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है। मानसिक विषय की घृणा कभी मन में अपनी क्रिया ही से जन्म लेती है और कभी शिक्षा द्वारा प्राप्त आदर्शों के विपरीत पाई जाने वाली वस्तु के कारण उत्पन्न होती है।

घृणा

मनुष्य के सन्मुख प्रतिकूल विषयों के उपस्थित हो जाने पर वह या तो उससे दूर होने का प्रयत्न करता है अथवा अपने मन के व्यापारों को उस ओर से बंद कर लेता है। जीवन-व्यवहार के आधार पर क्रोध और घृणा में अन्तर स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। क्रोध में मूल विषय हानि पहुँचाने का रहता है, इसलिए क्रोधी अपनी क्रोध की वस्तु को नष्ट करना चाहता है। परन्तु घृणा का विषय इन्द्रिय या मन एक संकोच मात्र उत्पन्न करने वाला रहता है, जिससे मनुष्य एक दम उद्वेलित हो वस्तु को नष्ट करने के लिए तत्पर नहीं ले जाता है। घृणा का विषय दूसरे को दुख या पीड़ा पहुँचाने के लिए सामने नहीं लाया जाता; परन्तु क्रोध का विषय पीड़ित करने का रहता है यदि कोई व्यक्ति व्यभिचार करता है, तो इसलिए नहीं कि दूसरे उससे घृणा करें लेकिन यदि कोई गन्दी गालियाँ जान बूझ कर व्यक्ति के सामने बकता जाता है, इस स्थिति

में अवश्य ही क्रोध उत्पन्न होगा। क्रोध के उत्पन्न होने पर क्रोधित हो वह मनुष्य मारने भी उठ सकता है। घृणा में केवल दुख का अनुभव कर मन से किसी प्रकार उसे दूर करने का प्रयत्न मात्र किया जाता है। क्रोध और घृणा के इस अन्तर को देख कर ही आचार्य क्रोध को 'प्रवृत्ति' का मार्ग और घृणा को 'निवृत्ति' का मार्ग कहते हैं। घृणा का भाव सुन अधिकतर व्यवहार में यही अनुमान लगाया जाता है कि किसी बात द्वारा सामाजिक आदर्श या लक्ष्य की विरोधता उपर्युक्त बात द्वारा की गई है। इसके विपरीत बैर व्यक्तिगत भाव है, जिसमें व्यक्तियों के आदर्शों का विरोध उत्पन्न होता है। घृणा और बैर के इस अन्तर के कारण सभ्य समाज अपने बैर को छुपाने के लिए अधिकतर घृणा कर काम निकाल लिया करते हैं।

घृणा के जो दो भेद किए गए हैं उनमें स्थूल विषय अधिकतर सब मनुष्यों के लिए समान रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध सब के लिए सुगन्ध और दुर्गन्ध ही रहेगी। यह बात घृणा और श्रद्धा में भी पाई जाती है, सभ्य जातियों में घृणा और श्रद्धा के विषय प्रायः समान और सब के द्वारा स्वीकृत किए जाने वाले होते हैं। स्थूल घृणा के सम्बन्ध में जो समानता कही गई उसमें यदि कभी मतभेद दृष्टि गोचर होता है तो वह व्यक्ति द्वारा देखे गये आगे पीछे के कारण होता है। किसी बात में कोई एक कारण देखता है कोई दूसरा, परिणाम भी भिन्न भिन्न अनुमानित किए जा सकते हैं। इसी आधार पर घृणा के सम्ब्रन्ध में मतभेद उत्पन्न हो जाया करता है। इसके साथ एक बात और है, घृणा के विषय जब अपने मूल रूप में व्यक्ति के सामने आते हैं तब तो मतभेद का कोई स्थान नहीं रह जाता, सब समान रूप से घृणा करने लगते हैं, लेकिन जब घृणा के लक्षण मात्र सन्मुख उपस्थित होते हैं जो अन्य विषयों के लक्षण भी बन जाया करते हैं तब मतभेद उपस्थित होता है। एक व्यक्ति को समाज में कोई बड़ा धार्मिक पुरुष मानता है और दूसरा जिसके सामने वह अपनी बात छुपाने के योग्य नहीं रह पाया उसे पूरा मक्कार कहता है। घृणा के मत भेद का एक कारण यह भी है कि संसार में अनेक वस्तुओं के बीच सीमाएँ

अस्थिर हैं। एक वस्तु किसी मात्रा में श्रद्धा का आधार रहती है और किसी में अश्रद्धा का कारण बन जाती है। इस अस्थिरता के अतिरिक्त शिक्षा और संस्कारों के कारण भी मतभेद उत्पन्न हो जाया करता है। किसी की विशेष बातों को देख एक उसे शिष्ट समझता है, तो दूसरा उसे कुटिल कहता है।

मनोविकारों को आचार्य दो प्रकारों का स्वीकार करते हैं—"(१) प्रेष्य (२) अप्रेष्य।" प्रेष्य मनोविकार—क्रोध, घृणा, प्रेम आदि हैं यह एक के हृदय में दूसरे के प्रति उत्पन्न होकर दूसरे के हृदय में भी पहले के प्रति उत्पन्न हो जाया करते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों में से यदि क्रोध को लें तो यदि एक व्यक्ति किसी पर क्रोध करता है तो दूसरों के मन में भी पहले के प्रति क्रोध उत्पन्न हो सकता है अथवा हो जाया करता है। अप्रेष्य मनोविकार—भय, दया, ईर्ष्या आदि हैं जो जिसके प्रति होते हैं उसके मन में दूसरे प्रकार के भावों की सृष्टि करते हैं। जिससे भय होता है वह दया करने लगता है, जिससे ईर्ष्या होती है वह घृणा करने लगता है। प्रेष्य मनोविकारों में एक विशेषता रहती है कि वह सजातीय संयोग पाकर बहुत उग्र रूप धारण कर लेते हैं। एक को क्रोधित देख दूसरा क्रोधित होता है। दूसरे के क्रोध से पहले का क्रोध बढ़ता है इस प्रकार क्रम चला करता है। अप्रेष्य में विरोधी मनोविकारों में उदय के कारण यह बात नहीं होती। सामाजिक हित और व्यक्तिगत हित को ध्यान रख, घृणा जो प्रेष्य मनोविकार है उसे बहुत समझ बूझ कर मनुष्य को अपने हृदय में स्थान देना चाहिए, क्योंकि घृणा की वस्तु से दूर जाने जाने वाली प्रवृत्ति व्यक्ति को वस्तु के लाभ से वंचित करा दिया करती है।

मानसिक प्रवृत्ति की दृष्टि से यदि अनुमान किया जाए तो भय और घृणा दोनों की एक सी प्रवृत्ति रहती है। दोनों विषय से दूर होने के लिए प्रेरित करते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि घृणा का दुख स्थायी रहता है और भय में अशंका बढ़ने की रहती है। भय दुख की ऐसी छाया है जो अनुमानतः हमारे चारों ओर छाई रहती है। व्यक्ति वस्तु से भयभीत हो, दुख का

अनुमान किया करता है इसी कारण आचार्य भय को "अतिरिक्त क्लेश" कहते हैं। समाज की सभ्यता और शिष्टता के आवरण में व्यक्ति अपनी घृणा, उदासीनता कह कर छिपाया करता है। परन्तु भेद स्पष्ट है, व्यक्ति को जिस बात से घृणा होती है उसके प्रति वह व्याकुल रहता है कि किसी भी प्रकार उस बात की पुनरावृत्ति न की जाए। यह उदासीनता में नहीं होता, यहाँ व्यक्ति पूर्ण रूप से विषय की चिन्ता नहीं करता। विषय का होना अथवा न होना उसकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखता है।

मानव के मन में जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति के दुख को देख कर करुणा का उदय होता है, उसी प्रकार दूसरे के सुख के कारण अथवा भलाई के

ईर्ष्या

सुख के कारण अथवा भलाई के कारण जो दुख का आभास होता है, वही ईर्ष्या कही जाती है। आचार्य ईर्ष्या को 'संकर भाव' कहते हैं जो जिसका उदय व्यक्ति में आलस्य, अपने अभिमान अथवा नैराश्यता के संयोग से होता है। बालकों के मन में देर से इस भाव का उदय होता है, पशुओं में यह भाव नहीं मिलता। ईर्ष्या में व्यक्ति प्राप्ति के लिए उत्तेजित नहीं दिखाई देता, उसे तो अभाव खटकता रहता है। जिसके कारण वह अपने मन का दुख तीन रूपों में प्रगट किया करता है :—

(१) यदि वह वस्तु मेरे पास होती।
(२) वस्तु उसके पास न होकर हमारे पास होती।
(३) वह वस्तु उसके पास न रहे और चाहे जहाँ जाए।

इन वाक्यों में क्रमशः भाव व्यक्ति की ओर अधिक और वस्तु की ओर कम दिखाई देता है। व्यक्ति और वस्तु के कारण ही ईर्ष्या और स्पर्धा में अन्तर आता है। ईर्ष्या व्यक्ति से होती है, स्पर्धा वस्तु के प्रति रहती है।

सामाजिक दृष्टि से स्पर्धा का विशेष महत्व है। स्पर्धा के अन्तर्गत मनुष्य के मन में किसी के सुख, ऐश्वर्य, गुण अथवा मान को देख अपनी त्रुटि पर दृष्टि जाती है और इसके साथ एक तीव्र इच्छा द्वारा इस त्रुटि को दूर करने का व्यक्ति प्रयास करता है। अपनी त्रुटि पर ध्यान

बनाए रखने के कारण जहाँ ईर्ष्या में केवल दूसरे की सम्पन्नता और सुख पर दुख होता है, वह बात यहाँ नहीं। ईर्ष्या का भाव गुणवानों को नष्ट करने के लिए प्रयत्न शील रहता है, स्पर्धा द्वारा अनेक व्यक्ति आगे बढ़ने अपनी त्रुटि दूर करने में प्रेरित होते दिखाई देते हैं। इसी कारण सामाजिक दृष्टि से यह एक उपयोगी भाव है। ईर्ष्या का भाव जब अपना उग्र रूप धारण करके प्रत्येक दृष्टि से व्यक्ति की हानि के लिए तत्पर हो जाता है तभी द्वेष में परिणत हो जाया करता है। वैर और द्वेष में व्यक्तिगत अन्तर रहता है। वैर और व्यक्ति अपनी हानि के बदले के कारण करता है द्वेष में व्यक्ति को अपनी हानि, लाभ का प्रश्न सामने नहीं आता। उपर्युक्त ईर्ष्या के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि से ईर्ष्या अनावश्यक विकार है, जिसे मूल मनोविकारों में नहीं रखा जा सकता। ईर्ष्या को 'संकर भाव' कहने का तात्पर्य आचार्य का यही है कि जब व्यक्ति के कई भाव एक साथ मिल जाते हैं। वह अपने को किसी विशेष कार्य करने में अयोग्य पाता है, तभी मिश्रित रूप में इस भाव का उदय हो जाया करता है।

ईर्ष्या भाव का उदय सर्व-सामान्य द्वारा नहीं होता, यह उन्हीं व्यक्ति-विशेषों से होता है जिनको हम अपने समकक्ष समझते हैं और यह विचार करते हैं कि समाज की दृष्टि हमारे उसके समकक्ष होने के कारण, व्यक्ति विशेष के साथ हमारे ऊपर भी आएगी। अतः मनुष्य जैसे ही एक दूसरे के सम्पर्क में आकर दूसरों की सहानुभूति और सहायता प्राप्त करता है वैसे ही वह उनके ईर्ष्या और द्वेष का भी समयानुसार पात्र बन जाता है। इस भाव के विकसित करने में ईर्ष्या करने वाला और ईर्ष्या के पात्र के अतिरिक्त समाज की भी आवश्यकता रहती है। समाज पर प्रभाव डालने के लिए ही मनुष्य ईर्ष्या करता है। इसी प्रकार गुण और ऐश्वर्य में व्यक्ति किसी दूसरे से बड़ा न हो। लेकिन यदि समाज उसे बड़ा समझता है तो व्यक्ति इस भाव के दुख का अनुभव नहीं करता। ससार के सामाजिक जीवन में जो कृत्रिमता आ गई है उसी के कारण इस भाव का उदय हो जाता है। अपने समकक्ष व्यक्तियों की उन्नति देख, व्यक्ति की

यद्यपि कोई व्यक्तिगत हानि नहीं होती लेकिन फिर भी वह इस सामाजिक जीवन के कारण उससे ईर्ष्या करने लगता है। समाज में आते ही व्यक्ति अपने दोहरे अस्तित्व का कि "मैं यह समझा जाता हूँ," अनुभव करने लगता है। प्रतिभाशाली और शक्तिवान यह विचार न कर केवल विचार करते हैं 'हम ऐसे हों' और "हम ऐसे समझे जाएँ।" संसार में सब शक्तिवान नहीं होते, अधिकतर व्यक्ति प्रथम प्रकार से ही विचार करते हैं और प्रथम में भी दूसरी बात ही सोचा करते हैं तथा उसे स्थिर रखने का प्रयत्न करते हैं। ईर्ष्या इन्हीं व्यक्तियों में अधिकतर प्रस्फुटित होती है, और वह उनकी सहायक भी बन जाती है। यहां जब असत्य का समावेश होने लगता है अतः जो बात व्यक्ति में नहीं है, उसका प्रयत्नशील रहना कि दूसरे वही उसके लिए समझते जाएँ, ईर्ष्या विकसित कर देता है।

ईर्ष्या केवल अप्राप्ति के प्रति ही नहीं प्राप्त के प्रति भी होती है। जो वस्तु अप्राप्त है उसके प्रति तो ईर्ष्या होती ही है, प्राप्त वस्तु के लिए भी ईर्ष्या होती है, हम यही चाहते हैं कि वह वस्तु दूसरे के पास न हो। सामाजिक जीवन और राजनीतिक जीवन में पाई जाने वाली विषमताएँ आचार्य के मन से इसी ईर्ष्या द्वारा प्रेरित होती हैं। समाज के कार्यों को करने वाला एक व्यक्ति दूसरे को छोटा, हीन समझता है, समाज जब इन बातों को प्रोत्साहन देने लगता है तभी सामाजिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। समाज में व्यक्ति जब प्रत्येक समय अपनी बड़ाई के आनन्द के अनुभव के लिए व्याकुल होने लगता है तब यह उसका दुर्व्यसन बन जाता है, जिसे आचार्य 'अहङ्कार' कहते हैं। ईर्ष्या, अहङ्कार के पीछे पीछे चलती आती है, क्योंकि व्यक्ति हर बात में दूसरों से अपनी श्रेष्ठता देखना चाहेगा उसका यह भाव दूसरों को भी ईर्ष्या के लिए प्रेरित करेगा।

ईर्ष्या में व्यक्ति की हानि का भाव नहीं रहता, यदि हानि का भाव झलकेगा, तो वह शुद्ध ईर्ष्या के अन्तर्गत नहीं आएगा। जहाँ हानि का प्रश्न है वहाँ समाज या व्यक्ति के अधिकार और बचाव की बात सामने

आती है इस दृष्टि से समाज व्यक्ति को अधिकार देता है कि वह उसे दंडित करे। ईर्ष्या में केवल दूसरे की प्राप्ति या प्राप्ति की सम्भावना की बात रहती है। इसी कारण ईर्ष्या करने वालों में दो रूप पाए जाते हैं—असंपन्न में आलस्य और नैराश्य तथा सम्पन्न में अपनी लघुता का बोध, दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा और क्रोध की मात्रा रहती है।

ईर्ष्या में क्रोध का भाव यदाकदा मिला रहता है। ईर्ष्या करने वाला कभी-कभी रोषित वचनों का प्रयोग कर बैठता है। क्रोध, ईर्ष्या का संचारी भाव कहा जा सकता है, जिसका आभास समय समय पर व्यक्ति को मिलता है। इस ईर्ष्या-जनित क्रोध को आचार्य जड़ क्रोध मानते हैं, क्योंकि यहाँ व्यक्ति, जिस पर क्रोध करता है उसके मानसिक उद्देश्य पर ध्यान नहीं देता अर्थात् वह यह नहीं सोचता कि उस व्यक्ति ने क्या कोई विशेष कार्य हमें दुखित करने के लिए किया है।

ईर्ष्या भाव से प्रताड़ित व्यक्ति का दुख अधिकतर व्यर्थ जाता है, क्योंकि ईर्ष्या जैसे उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है ऐसी ही बातों से होती है जिनको अपने अनुकूल परिवर्तित करने का हमारी सामर्थ नहीं रहती। इस स्थिति के कारण ईर्ष्या-जनित दुख का कोई परिणाम नहीं निकलता। ईर्ष्या के मूल में आलस्य और नैराश्य होने के कारण उसके प्रभावशाली शक्ति का अभाव रहता है। क्रोध में जैसे वेग रहता है, ईर्ष्या में वह बात नहीं रहती, क्योंकि आलस्य और नैराश्य के कारण व्यक्ति हाथ पर हाथ रख बैठ जाता है। मनुष्य को ईर्ष्या का विकार मन से दूर करने के लिए उद्योग और आशा पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। आशा सहित व्यक्ति यदि धर्मशील रहेगा तो ईर्ष्या का उदय सम्भव नहीं। ईर्ष्या अप्रेष्य मनोविकार होने के कारण उसके बदले में घृणा और क्रोध मिलता है, जो ईर्ष्या से अधिक अनिष्टकारी है। न्याय अपराधी को उसके अपराध से अधिक दंड देती है। इस दृष्टि से प्रकृति के क्षेत्र में पाए जाने वाले भावों में ईर्ष्या को आचार्य 'पाप या जुर्म' कहते हैं।

ईर्ष्या एक ऐसी लजावती वृत्ति है जो धारण करने वाले के भी सामने

नहीं आती, अन्य भावों के लक्षण प्रगट होते हैं पर इसके नहीं। साथ ही यह कुत्सित वृत्ति है जिसे व्यक्ति न तो एकान्त में स्वीकार करता है न समाज में। व्यक्ति, ईर्ष्या को कभी स्वीकार नहीं करता यदि कभी कोई कार्य उस भाव के प्रस्फुटित भी हो जाते हैं तो वह उसे अन्य मनो-विकारों के अन्तर्गत दिखाने का प्रयत्न करता है।

मनुष्य को किसी आते हुए कष्ट की भावना अथवा कारण के ज्ञान से जो आवेगपूर्ण और स्तम्भ-कारक होता है उसे भय कहते हैं। भय के लिए दुख का कारण जानना आवश्यक नहीं केवल इतना ज्ञात हो जाने से कि दुख या हानि पहुँचेगी, यह भाव उदय हो जाता है। क्रोध तभी होता है जब दुख का कारण स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य को क्रोध उसी समय उत्पन्न होता है जब उसे यह आभास मिल जाता है कि किसी ने जान-बूझ कर उसे दुख पहुँ-चाया है।

भय

भय का विषय दो रूपों में—असाध्य और साध्य में सन्मुख आता है। साध्य, प्रयत्न द्वारा दूर किया जा सकता है लेकिन असाध्य में प्रयत्न, कार्य नहीं करता। विषय का साध्य अथवा असाध्य होना व्यक्ति की परिस्थिति विशेष के अतिरिक्त उसकी प्रकृति पर भी आधारित रहता है। कठिन परिस्थिति के उपस्थित होने पर भी व्यक्ति यदि साहसी है तो वह भय से दूर रह उससे बचने का उपाय ढूँढ़ निकालता है। भय का स्वभावगत हो जाना कायरता है। इस कायरता अथवा भीरुता में व्यक्ति को अपनी शक्ति में अविश्वास तथा कष्ट सहने की अक्षमता का भाव छिपा रहता है। व्यक्ति किसी के भय से दूर भागता है जिसका तात्पर्य यही है कि वह अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं करता और साथ-साथ वह कष्ट की पीड़ा को भी नहीं सह सकता है इसी कारण वह ऐसा करता है। समाज के व्यक्तियों के जीवन में भीरुता अनेक कार्यों में प्रगट होती है जैसे अर्थहानि के भय से बहुत से व्यक्ति व्यापार नहीं करते, हार जाने के भय से बहुत व्यक्ति शास्त्रार्थ को तैयार नहीं होते। धर्म-भीरुता

की प्रसंशा होती है पर आचार्य उसे प्रसंशा की बात नहीं स्वीकार करते। आपके मतानुसार बुराई से हटना अच्छा नहीं, बुराई अच्छी न लगना श्रेष्ठ है।

भय में दुख या आपत्ति का निश्चय रहता है, पर जब उसकी सम्भावना से आवेग शून्य भय हो, तो वह आशङ्का है। आशङ्का का संचार भय के विपरीत धीमा होता है लेकिन अधिक समय तक व्याप्त रहता है। आचार्य सुखात्मक भावों में आशा की जो स्थिति मानते हैं वही दुखात्मक भावों में आशंका भी स्वीकार करते हैं।

यदि दुख के कारण पर क्रोध का प्रभाव डाला जाता है। तो क्रोध का निवारण कुछ समय अथवा बहुत समय के लिए होता है। भय में यह अवस्था नहीं पाई जाती। उन सज्ञानी लोगों में जिनमें भाव बहुत समय तक रहते हैं तथा व्यक्ति की पहुँच अनेक व्यक्तियों तक रहती है, वहाँ भय का फल भय के संचार तक सीमित रहता है। व्यक्ति जैसे भय भूलता है, उसे किसी बड़ी कठिन समस्या का सामना करना पड़ता है। जब तक उसे भय का आभास रहता है वह बचने का प्रयत्न करता है लेकिन भय का आभास नहीं रहता तो सम्भव है कि वह कोई बड़ी चोट खा जाए। असभ्य जातियों में भय से बहुत लाभ निकलता है, भय द्वारा बहुत समय तक के लिए व्यक्ति अपने को बचा सकता है। इसी कारण जंगली जातियों में भय अधिक पाया जाता है। छोटे बच्चों में जिनमें भाव बहुत समय तक टिके नहीं रहते और अपने दुख को दूर करने का ज्ञान या बल भी नहीं होता, भय अधिक रहता है। वे अपरिचितों को देख दूर भाग जाते हैं। प्राणी संसार में आने पर दुख-कारण-पूर्ण संसार देखता है, जिसे वह धीरे-धीरे अपने ज्ञान और शक्ति द्वारा सुखमय बनाता है। उसे जीवन में दुख और कष्ट ही सामान्य रूप में मिलते हैं अतः वह सुख और आनन्द को इसका उल्टा समझता है। अतः उसे इस विशेष से सामान्य की ओर जाने का साहस बहुत दिनों तक नहीं होता। धीरे-धीरे अपने परिचितों का अनुभव ले समझता है कि यह उसे कष्ट न पहुँचा सुख देंगे पर अपरिचितों के साथ फिर भी भय बना रहता है।

जीवन की बातों का अभ्यास हो जाने पर ज्ञान, हृदय और शरीर के बल पर इस भय की छाया से धीरे-धीरे व्यक्ति दूर होने लगता है। सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ मनुष्य अनेक प्रकार के भय के कारणों से दूर होता जाता है। आज के युग में मनुष्य को केवल मनुष्य से भय रह गया है, जिसने गूढ़ता और जटिलता का रूप धारण कर लिया है इसके उदाहरण न्याय क्षेत्र में अधिकतर पाए जाते हैं।

मानव की प्रकृति में अनेक रूपता सदा पाई जाती है। एक व्यक्ति में दूसरे के प्रति सुखद और दुखद दोनों भाव सदा मिलते हैं। परन्तु व्यक्तिगत रूप उतना विषम नहीं हो जाता जितना संघटित रूप इसी कारण आचार्य संघ को "वह शक्ति कहते हैं जिससे शुभ और अशुभ दोनों के प्रसार की सम्भावना बढ़ जाती है।" राजनीतिक उदाहरणों द्वारा आपने यह सिद्ध किया कि किस प्रकार इस शक्ति द्वारा एक देश सदा दूसरे से भयभीत बना रहता है। आज के वर्त्तमान सभ्य युग में मानव आदि-काल के मानव के अनुसार यद्यपि एक दूसरे से भयभीत नहीं होता फिर भी एक देश दूसरे से और एक जाति दूसरी से भयातुर रहती है।

संसार में मानव को जैसे सुखी रहने का अधिकार है उसी प्रकार वह भय से भी मुक्ति चाहता है। निर्भयता प्राप्ति के लिए दो बातें चाहिए एक तो हम से किसी को कष्ट न हो दूसरी यह कि अन्य हमें कष्ट पहुँचाने का साहस न करें। पहले में शील कार्य करता है दूसरे में शक्ति। समाज के व्यवहारों के आधार पर आचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि दूसरे को न डराने से ही डरने की सम्भावना दूर नहीं हो जाती। इसके उदाहरण नित्य प्रति देखे जाते हैं। अनेक साधु और शीलवान व्यक्ति भी दुर्जनों से पीड़ित हुआ करते हैं।

शुक्ल जी के मतानुसार क्रोध "दुख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है।" क्रोध में दुख और उसका कारण का

क्रोध

आभाव आवश्यक है, बिना इसके क्रोध उत्पन्न नहीं होता। इसी कारण वह बालक जो हाथ उठा कर मारने में दुख का कारण नहीं समझता, क्रोधित नहीं होता। इस मनोविकार

में दुख के कारण का ज्ञान हो जाता है अतः यह मनोविकार बहुत जल्दी ही, जब बालक दुख का कारण समझने लगता है उत्पन्न हो जाता है।

सामाजिक जीवन के लिए क्रोध बहुत आवश्यक है। मानव के मन में यदि इस भाव का उदय न हुआ करे तो वह दूसरों के द्वारा पहुँचाए जाने वाले कष्टों को दूर करने की कोई मार्ग ही नहीं निकाल सकता। इस प्रकार वह सदा दूसरों से कष्ट पाता रहेगा। व्यवहारिक जीवन में अधिकतर क्रोध प्रतिकार के रूप में रहता है, यहाँ दुख के फिर से प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती, फिर भी व्यक्ति को कष्ट पहुँचाया जाता है। जहाँ दुख पाने की सम्भावना स्थायी रहती है, उसमें स्वरक्षा का भाव क्रोध में कार्य करता है।

क्रोध की परिभाषा व्यक्त करते हुए यह कहा गया है कि क्रोध में दुख के चेतन कारण का ज्ञान बना रहता है, परन्तु जिसमें यह ज्ञान न रहे या उसमें कोई त्रुटि रहे वह क्रोध अवश्य धोखा दे बैठता है। क्रोध में अन्धापन वही कहलाता है, जो जहाँ से क्रोध आता है उसी ओर देखता है अपनी ओर दृष्टि नहीं डालता। वह विचार नहीं करता कि उसने भी कोई बुरा कार्य किया है। क्रोध के मूल में व्यक्ति की रक्षा का भाव निहित रहता है। कार्य-कारण भी जो बात कही गई, यदि व्यक्ति जहाँ से उसका क्रोध उदय हो रहा है उसकी शक्ति का पूरा-पूरा अनुमान नहीं कर पाया तो अवश्य धोखा खा जाता है। अतः यह निश्चय है कि क्रोध आवश्यक मात्रा तथा एक विशेष उपयुक्त स्थिति में ही मनुष्य के लिए लाभकारी हो सकता है।

क्रोध में जो उग्र चेष्टाएं की जाती हैं उनका लक्ष्य दूसरे को हानि और पीड़ा पहुंचाने के पूर्व उसमें भय का संचार करना भी रहता है। यदि पात्र भयभीत हो गया, उसने क्षमा माँग ली तो फिर क्रोध का भाव न रहा व्यक्ति क्षमा करने तक को तत्पर हो जाता है। जब दुख का विषय किसी का गर्व होता है क्रोध का उद्देश्य हानि पहुँचाना न रह कर गर्व चूर करना रहता है। कभी-कभी क्रोध का वेग इतना तीव्र हो जाता है कि

व्यक्ति कारण देखने का प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार का क्रोध 'अपरिष्कृत' कहा जाता है। क्रोध मानव-मन का सबसे फुरती का भाव है इसी कारण यह अन्य भावों के साथ उदित हो उनको सन्तुष्ट करने में सहायक बनता है। क्रोध कभी घृणा का साथ देता है और कभी दया का। किसी को दया से वशीभूत हो अत्याचारी का दमन करते देख यह स्पष्ट है कि यहाँ क्रोध ने ही दया को निबाहा है, अन्यथा वह व्यर्थ नष्ट होती। क्रोध मानव शान्ति नष्ट कर देता है। एक का क्रोध दूसरे के क्रोध को विकसित करता है इसी कारण धर्म, नीति और सदाचार इस भाव को दमन करने के लिए प्रेरित किया करती है। सभ्यता के व्यवहार में मनुष्य प्रायः अपने क्रोध के चिन्हों को दबाने का प्रयत्न करता रहता है। क्रोध रोकने का अभ्यास जितना ठग और स्वार्थियों में पाया जाता है उतना ही सिद्धों में भी देखा जाता है। स्वार्थ निकालने वाला व्यक्ति अपने भरसक क्रोध दबा रखने का प्रयत्न करता है।

क्रोध को प्रेरित करने वाले दो प्रकार के दुख होते हैं—अपना दुख और दूसरों का दुख। क्रोध का त्याग पहले के लिए ही कहा गया है, दूसरा जितना व्यापक होता जाएगा उतना उसका सुन्दर रूप, सामाजिक हित को दृष्टि में रख सन्मुख आएगा। साहित्य पर दृष्टिपात कर आचार्य स्पष्ट करते हैं कि द्वितीय प्रकार का क्रोध सदा काव्य जगत में पाया जाता है, जो अपना सुन्दरतम रूप प्रगट करता है। यहाँ करुणा आधार रहती है जो क्रोध को विकसित करती है। आचार्य के अनुसार वाल्मीकि के क्रोध के परिणाम स्वरूप एक महा-काव्य बना, जिसके मूल में प्राणि मात्र के प्रति दया छुपी है, राम का क्रोध, लोक के क्रोध की क्षुब्धता है। दुख सहते-सहते उसकी सीमा का उलंघन हो जाता है, फिर क्षमा का भाव नहीं रहता, इसी नैराश्य में क्रोध अपने वेग के साथ सौन्दर्य का प्रस्फुटन करता है।

दण्ड को आचार्य कोप का विधान मानते हैं। समाज में पाया जाने वाला राजकोप, लोक-कोप और धर्म-कोप में सम्बन्ध रहता है क्योंकि राजदंड राजकोप के कारण होता है, राजकोप, लोक-कोप के कारण

और लोक-कोप, धर्म कोप के कारण। यदि राज-कोप में धर्म-कोप का आभास न मिले, तो वह अपना महत्व खो केवल कुछ मनुष्यों का कोप मात्र रह जाता है।

व्यक्ति जिससे दुख प्राप्त करता है, स्वभावतः ही उसके प्रति उसका क्रोध होता है, यदि यह क्रोध बहुत दिन तक मनुष्य में स्थायी रूप से बना रहे तो बैर बन जाता है, इसीलिए आचार्य बैर को "क्रोध का अचार या मुरब्बा" कहते हैं। स्थायी होने के कारण बैर में क्रोध के समान वेग यद्यपि नहीं रहता, पर उसे पीड़ित करने का भाव सदा मन में बना रहता है। दुख और बैर का अन्तर केवल काल पर आधारित रहता है। यदि उसी समय दुख का प्रतिकार हो गया तो यह प्रतिकार क्रोध द्वारा होगा, परन्तु यदि समय बीत गया और प्रेरणा दुख देने की बनी रही तो यह कार्य बैर द्वारा किया जाएगा।

क्रोध का हल्का रूप चिड़चिड़ाहट है जो मानसिक दुर्बलता का कारण रहती है इसी कारण यह वृद्ध और रोगियों में अधिक पाई जाती है। चिड़चिड़हट की व्यंजना केवल शब्दों तक सीमित रहती है। अमर्ष अधिकतर क्रोध के पूर्व पाया जाता है। इसमें व्यक्ति को किसी बात का बुरा लगता है, क्षोभ के कारण उसे एक आवेग का अनुभव होने लगता है। क्रोध में व्यक्ति अपने पात्र को भयभीत अथवा कष्ट पहुंचाने के लिए उद्यत हो जाता है, वहाँ अमर्ष में दुख की बात और उसकी असह्य वेदना पर व्यक्ति की दृष्टि रहती है। इसके आगे चल कर क्रोध की व्यंजना होती है।

आयार्य ने इन निबन्धों में भावों का विश्लेषण कर हिन्दी साहित्य को नवीन तथा अमूल्य वस्तु प्रदान की है। आपने मानव में मिलने वाले प्रमुख भावों को लिया है, आपकी मानव तथा मानवेतर प्राणियों के स्थूल और सूक्ष्म मनोविकारों की स्थिति, उनका विकास, उनका आपस में सम्बन्ध तथा उनके विवेचन के सम्बन्ध में बड़ी पैनी दृष्टि थी। व्यवहारिक जीवन में स्थित भावों का विश्लेषण इसी आधार पर किया गया है।

साहित्यिक व्यक्ति होने के नाते ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य में स्थित मूल मनोभावों को स्पष्ट करने के लिए, भावों का विश्लेषण किया गया है। निबन्ध मनोविज्ञान पर यद्यपि आश्रित हैं, परन्तु वे कोरे शास्त्रीय परिभाषाएं नहीं। प्रत्येक बात जीवन की व्यवहारिकता के नाते स्पष्ट की गई है। अभी जैसा कहा गया भाव को स्पष्ट करते करते लेखक साहित्य पर आ जाता है, जिसके उदाहरणों द्वारा साहित्य में भावों की व्याख्या कर देता है। प्रत्येक भाव के अन्तर्गत ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं।

————

अध्याय ४

कविता सम्बन्धी विचार

कविता की परिभाषा

मानव संसार में अपने विचारों, भावों का आदान-प्रदान करता हुआ चलता है। अपनी सत्ता के आस्तित्व के सहित, जब तक संकुचित विचारों द्वारा अपने ही दुख-सुख तथा हानि-लाभ की चिन्ता को लिए हुए वह चला करता है, उसे अपना हृदय संसार में बंधा प्रतीत होता है। परन्तु जब मानव इन संकुचित-विचारों से दूर, अपने सुख-दुख हानि-लाभ की चिन्ता छोड़ अपने को भूलता हुआ केवल चैतन्य मात्र रह जाता है, उस समय वह 'मुक्त-हृदय' का अनुभव करने लगता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में मानव की यह अवस्था 'रस-दशा' कही जाती है। रस-दशा अथवा हृदय की मुक्तावस्था प्राप्ति कवि का मूल विधान रहता है। कविता की परिभाषा देते हुए आचार्य लिखते हैं "हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।" हृदय की 'मुक्ति-साधना' को भावों का योगीकरण भी कह सकते हैं। भावनाएँ ऐसे स्तर तथा रूप में आकर संगठित, और प्रस्फुटित होती हैं, जहाँ मानव संसार के संकुचित बन्धनों से मुक्तता अनुभव करता है। कविता का सम्बन्ध मानव हृदय से है, जो भावनाओं द्वारा हृदय को मुक्ति प्रदान करता है। आत्मा की मुक्तावस्था जैसे ज्ञान-दशा कही जाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। यह दशा भावों के योग द्वारा मानव को प्राप्त होती है।

रस दशा की प्राप्ति के कारण कविता मानव को उसके संकुचित भावों से ऊपर उठा सर्व-सामान्य संसार के भावों की भूमि पर ला देती

है। मानव जब इस स्थिति में पहुंचता है, उस समय कुछ काल विशेष के लिए वह अपने आस्तित्व को संसार के आस्तित्व में लीन कर देता है। वह सर्व सामान्य के दुख से दुखी तथा सुख से सुखी होने लगता है। जीवन के इसी अभ्यास द्वारा मानव के भाव उस रूप में परिवर्तित होने लगते जिसके द्वारा, सर्व सामान्य के सम्बन्ध की स्थापना होती है। मानव के भाव कुछ विशेष रूपों तथा कार्यों से उसके भावों का सीधा सम्बन्ध रखते है, जिनको 'मूल रूप' कहा जा सकता है। इन 'मूल रूपों' का अनभव कर ही मानव प्रसंगानुकूल आदि काल से प्रसन्न तथा दुखित होता चला आया है। अतः काव्यगत दृष्टि लाने के लिए जो हमारे भावों का विषय अथवा आलम्बन बन सके इन 'मूल रूपों' में परिणत करना अत्यन्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि कुछ विशेष रूपों तथा व्यापारों जैसे वन पर्वत, नदी, लता, वृक्ष पत्तों का झड़ना, पानी का बहना आदि के द्वारा रस-परिपाक अधिक सम्भव रहता है अन्य कृत्रिम रूपों द्वारा वह उतना सम्भव नहीं होता है। संसार के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष तथ्यों को भावों का आलम्बन बनाने के लिए मूल रूपों का विधान अत्यन्त आवश्यक है।

यह अभी कहा जा चुका है कि तथ्यों को भावों का आलम्बन बनाने की शक्ति 'मूल रूपों' में ही रहती हैं। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-

कविता की आवश्यकता

साथ जीवन जटिलतम होता गया वैसे ही वैसे 'मूल रूप' सभ्यता के आवरण से ढकते गए तथा बुद्धि के व्यापार ने इन मूल व्यापारों को बहुत कुछ परिवर्तित कर दिया जैसा आचार्य ने उदाहरण दिया है कि आदि काल में वासनाजन्य मूल-व्यापार-भय का लक्ष्य अपना शरीर तथा सन्तति की रक्षा मात्र था; परन्तु धीरे धीरे सभ्यता के विकास के साथ मानव को धन, मान, अधिकार, प्रभुत्व आदि की रक्षा के भय से भी वह चिन्तित रहने लगा। इन व्यापारों में जटिलता यद्यपि आ गई परन्तु इनका सम्बन्ध 'मूल रूपों' से सदा रहता है। यह सम्बन्ध स्पष्ट कर देना अथवा सभ्यता के कृत्रिम आवरण को दूर कर 'मूल रूप' में उसका प्रस्फु-

टन करना कवि का मुख्य कार्य रहता है। जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता गया तथा होता जाएगा। वैसे ही वैसे उसके अनेक कृत्रिम आवरण मानव के "मूल-रूपों" को ढंकते जाएँगे और 'मूल-रूप' दूरागत होते जाएँगे परन्तु जैसे अभी कहा गया है कि आवरण से आच्छादित होने पर भी मूल रूपों से इनका सम्बन्ध रहता है, कवि उसे ही स्पष्ट कर देता है जो हमारे भावों के आलम्बन बन सकते है। यह सत्य जिस प्रकार संसार के कृत्रिम आवरण आच्छादित तथ्यों के लिए पूर्ण बैठते हैं उसी प्रकार अमूर्त विषयों के लिए भी, अतः जैसे जैसे संसार का कृत्रिम आवरण 'मूल रूपों' को आच्छादित करता जाएगा वैसे ही वैसे कवि का कार्य विस्तृत, कठिन तथा आवश्यक होता जायगा। कविता द्वारा मानव वाह्य प्रकृति का अपनी अन्तःप्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता है। इस स्थिति में आकर मानव अपनी संकुचित भूमि से ऊपर उठ प्राकृतिक सौन्दर्य में लीन हो जाता है। कविता की परिभाषा व्यक्त करते हुए शुक्ल जी लिख चुके हैं कि कविता द्वारा हृदय को मुक्तावस्था प्राप्त होती है, मानव के हृदय को इस मुक्तावस्था की प्राप्ति करवाना कवि अथवा कविता का क्षेत्र रहता है।

काव्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य दृष्टि तीन विस्तृत क्षेत्रों में विभाजित दिखाई देती है—

काव्य का क्षेत्र
(१) नर क्षेत्र के भीतर।
(२) मनुष्येतर वाह्य सृष्टि के भीतर।
(३) समस्त चराचर के अन्तर्गत।

संसार की अधिकतर कविता प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत मिलती है। मुक्तक तथा प्रबन्ध काव्य इसी में लिखे गए हैं। इस क्षेत्र में ही मनुष्य के वाह्य तथा अन्तः प्रकृति के सम्बन्धों का पारस्परिक विधान स्पष्ट होता है। यद्यपि कहीं कहीं बीच बीच में अन्य दो क्षेत्र भी मिल जाते हैं परन्तु अधिकतर कवि की दृष्टि नर क्षेत्र तक ही दिखाई देती है। ऐसे स्थलों में वाह्य प्रकृति उद्दीपन मात्र के रूप में मानी गई है। अथवा केवल नाम गिना कर ही काम सम्पन्न कर दिया गया है।

मनुष्येतर वाह्य प्रकृति का आलम्बन के रूप में ग्रहण अधिकतर संस्कृत के प्रबन्ध काव्य में पाया जाता है। मन किसी बात को दो प्रकार से ग्रहण करता है—बिम्ब रूप में अथवा कर्म रूप में, काव्य में पहला ग्रहण अधिक महत्व रखता है। बिम्ब ग्रहण के लिए कवि का सूक्ष्म निरीक्षण तथा स्पष्ट विवरण आपेक्षित होता है। शुक्ल जी ने इसके उदाहरण देते हुए लिखा है कि वाल्मीकि का हेमन्त वर्णन, कुमार सम्भव, रघुवंश, मेघ-दूत आदि में प्रकृति इसी रूप में हमारे सामने आई है। प्रकृति के अनेक रूप उसकी मधुरता, सुन्दरता, भव्यता, विकरालता, उग्रता आदि पर कवि का हृदय लीन होता है और उसका वर्णन उसकी पंक्तियों में झलक उठता है। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि कवियों की हानि जहाँ प्रकृति के साधारण रूपों पर दिखाई देती है वहाँ असाधारण पर भी दिखाई देती है। अंग्रेजी कवि वर्डसवर्थ और शैली की दृष्टि का उल्लेख करते हुए आप लिखते हैं कि वर्डसवर्थ की दृष्टि मधुर तथा सीधे-सादे प्रशान्त दृश्यों पर रहती थी। वहाँ शैली भव्यता तथा विशालता पर अधिक दृष्टि-पात करता था। हिन्दी साहित्य में आगे चल कर मुक्तक रचना में प्रकृति का यह रूप न रह कर केवल उद्दीपन रूप ही दिखाई देने लगा।

काव्यगत सहृदयता तो चिर-सहचर्य परम्परागत वासना के रूप में रहती है। प्रकृति का खुला, विस्तृत वातावरण उसे जाग्रत तथा व्यक्त करने में सहायता देता रहता है। प्रकृति का मानव से तादात्म्य यह, उस सम्बन्ध की स्थापना करता है जहाँ रागात्मकता को जन्म मिलता है और मनुष्य उच्च स्तर की अनुभूति प्राप्त करता है। प्रकृति के यह रूप व्यापार अनेक भीतरी भावों तथा तथ्यों की व्यंजना करते हैं जिनके आधार पर कविगण अनेक मार्मिक तथ्य, सूक्तियाँ तथा अन्योक्ति कह उठते हैं। सूक्तियों में काव्य का वह सौन्दर्य नहीं दिखाई देता जो मार्मिक तथ्यों के आधार पर स्फुटित हो उठता है। रागात्मक सम्बन्ध द्वारा पशु-पक्षियों के रूप, व्यापार, परिस्थितियाँ मानव के भावों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते है। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य रूप जैसे—पेड़-पौधे, नदी-नाले, आदि मानव के अनेक गूढ़ भावों तथा तथ्यों की उद्भावना करती है।

आचार्य शुक्ल ने मार्मिक तथ्यों तथा अन्योक्तियों के उदाहरण देते हुए इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। "वर्षा की उमड़ी हुई उच्छृङ्खलता में पोषित हरियाली और प्रफुल्लता का ध्वंस सामने आता है। पर यह उच्छृङ्खलता और ध्वंस अल्पकालिक होता है और इसके द्वारा आगे के लिए पोषण की नई शक्ति का संचय होता है। उछृङ्खलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है। नदी के इस स्वरूप के भीतर सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोकगति के स्वरूप का साक्षात्कार करती है।"

तीसरे क्षेत्र के अन्तर्गत दिखाई देने वाली काव्य दृष्टि जो सम्पूर्ण जीवन तथा संसार के चराचर से अपने तथ्यों की उद्भावना करती है, वह अत्यन्त व्यापक मानी जाती है यह व्यापक दृष्टिकोण भेद-भाव के रूप को पराभूत कर देता है। तथा मानव संसार के विस्तृत क्षेत्र में अपने आलम्बन की अनुभूति प्राप्त करता है।

कविता तथा व्यवहारिकता

मानव को कर्म क्षेत्र में प्रवृत्त करने के लिए भावनाएँ ही मूल रूप में प्रेरणाएँ दिया करती हैं। कोरा ज्ञान अथवा विवेक, कर्म करने के लिए प्रेरित नहीं करता, बुद्धि के आधार पर यदि यह मान लिया जाए कि मनुष्य कुछ विशेष कार्य कर सकता है अथवा करता है तो यह बात अनुपयुक्त होगी। मूल रूप से यदि विवेचन किया जाए तो प्रत्येक कार्य की तह में क्रोध, करुणा, भय, दया, आदि कोई न कोई भाव छुपा हुआ दिखाई देगा, जिसके बल पर मनुष्य विशेष कार्य करने को प्रस्तुत होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी लिखते हैं "अतः यह धारणा कि काव्य व्यवहार का वाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।"

कविता सम्बन्धी इस सत्य के आधार पर कहा जा सकता है कि कविता द्वारा मानव के भावों का परिष्कार होता है, उसका क्षेत्र संकुचित दायरे से विस्तृत हो जाता है, समस्त चराचर के भाव उसके भाव बन जाते हैं और वह रागात्मक सम्बन्ध द्वारा उस उच्च स्तर पर उठ जाता

है, जहाँ स्वार्थवश संकुचित वृत्तियों को कोई स्थान नहीं रहता। अतः कविता भावों का प्रसार कर जीवन की व्यवहारिकता में योग देती है; उसे बाधक मानना भूल है और जैसा ऊपर कहा गया कि मानव के प्रत्येक कर्म के अन्तर्गत भावनाएँ ही कार्य किया करती हैं, वही उसे संसार के विभिन्न कार्यों के लिए प्रेरित करती है तब जो वस्तु (कविता) भावनाओं का प्रसार करके उसे परिष्कृत करती है, तो फिर उसे जीवन के व्यवहार के लिए बाधक कैसे माना जाय ? कभी कभी संसार का संकुचित स्वार्थ अपने माप-दंड द्वारा काव्य और व्यवहार में मेल नहीं देखता, परन्तु यहाँ यदि परीक्षण किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह अव्यवहारिकता नहीं प्रत्युत हृदय की व्यापक भावनाओं का वह विस्तार है जिसके आगे स्वार्थबद्ध व्यवहार नहीं टिक सकते।

मानव पशु जगत के समान संकुचित क्षेत्र में बँध कर नहीं रह सकता उसके आकर्षण तथा विकर्षण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। अपने परिजनों से लेकर संसार मात्र के मानव तथा चराचर के सौन्दर्य से मुग्ध होना और उनकी भावनाओं को अपनी भावनाएं समझकर दुख-सुख का अनुभव करना मानव हृदय की विशेषता है। कवि मानव हृदय को यह प्रसारित भूमि प्रदान करता है। यह पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि कविता रागात्मक सम्बन्धों द्वारा मानव को संकुचित स्वार्थों से उच्च भूमि पर ले आती है, हमारा दृष्टिकोण और क्षेत्र विस्तृत हो जाता है, यह मानव को सांसारिक परिस्थितियों में जड़ होने से बचाती है और हम चराचर के सौन्दर्य पर मुग्ध तथा प्रसन्नता पर आनन्द विभोर एवं दुख पर द्रवीभूत हो जाते हैं।

काव्य का लक्ष्य व्यक्त करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं कि "कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामञ्जस्य-स्थापन है" कविता

काव्य का लक्ष्य

के द्वारा जिस रागात्मक सम्बन्ध की बात कही गई है उससे पूर्ण स्पष्ट है कि कविता मानव के भावों का प्रसार कर उसे वह व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिस स्तर पर

आकर मानव जगत के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। संसार की समस्त उच्च वाणियों का सदा यही लक्ष्य रहा है।

मनोरंजन मात्र काव्य का लक्ष्य नहीं माना जा सकता। मनोरंजन को काव्य की शक्ति मात्र कह सकते हैं जो शक्ति मानव के चित्त को विशेष रूप में रमाए रखती हैं। काव्य की इस शक्ति को देखकर जगन्नाथ पण्डितराज ने रमणीयता को ही काव्य का चिर लक्ष्य मान लिया था। योरुप के समीक्षकों द्वारा माना गया काव्य का लक्ष्य 'आनन्द' का भी शुक्ल जी विरोध करते हैं। उनके विचार से "मार्ग को ही अन्तिम गन्तव्य स्थल मान लेने के कारण बड़ा गड़बड़झाला हुआ" 'आनन्द' मात्र कविता का लक्ष्य मान लेने के कारण हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रीति काल में कविता विलास का साधन मात्र रह गई और उसका वह उच्च स्तर तथा आदर्श आँखों से ओझल हो गया। आश्रयदाता कवियों के हाथों कविता खिलवाड़ मात्र रह गई और उसके द्वारा नायक, नायिकाओं के रूप में काम-वासनाओं की पूर्ति की जाने लगी।

संसार के साथ मानव-हृदय का सामंजस्य स्थापित करना कविता के इस मूल उद्देश्य के सहित कवि का कर्म वस्तु के ऊपरी रंग-रूप का सौंदर्य तथा कर्म और मनोवृत्ति का सौन्दर्य व्यक्त करना भी रहता है। यह कर्म उस मूल लक्ष्य का एक अंग मात्र माना जा सकता है, जिसको व्यक्त कर कवि तादात्म्य का अनुभव कराता है। सौन्दर्य क्या है? यदि यह प्रश्न किया जाए तो स्पष्ट ही है कि काव्य में हम उसे ही सौन्दर्य मानते हैं जो हमें उन वस्तुओं की भावना के रूप में कुछ काल के लिए परिणत कर एकाकार कर देती है। शुक्ल जी काव्य में दो पक्षों को मानते हैं—सुन्दर और कुरूप। संसार का समस्त क्षेत्र इन दो शब्दों के अन्तर्गत आता है। श्रेष्ठ कवियों की कृतियाँ इन दोनों क्षेत्रों के आधार पर भावनाओं के एकाकारता का अनुभव कराती है। कवि की दृष्टि उधर ही जाती है जिधर उसे सौन्दर्य दिखाई देता है, इस बात को ध्यान में रख शुक्ल जी लिखते हैं कि 'कला में सत् असत् धर्माधर्म का विचार होना चाहिए या नहीं', 'कवि को उपदेशक बनना चाहिए या नहीं आदि बातों में पड़ने

आवश्यकता नहीं रह जाती। कवि के लिए तो यह समझना मात्र पर्याप्त है कि उसकी दृष्टि सुन्दर तथा कुरूप तत्वों पर जाती है, उसका मन उनमें रमता है, यह चाहे ऊपरी रूप रंग हों अथवा आन्तरिक मनोवृत्तियाँ। वह अपनी कविता द्वारा इन पक्षों पर सर्व सामान्य की दृष्टि लाने का प्रयत्न करता है। यह सौन्दर्य जितना व्यापक तथा जितना वाह्य और अन्तर्वृत्ति को सम्मिलित किए हुए रहेगा भावों के प्रसार के लिए उतनी ही सुविधा रहेगी। आचार्य लिखते हैं "चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों की रम्य अन्तः-प्रकृति की छटा का क्या कहना है!" ऐसे सौन्दर्य की उद्भावना कवि यदा-कदा किया करता है।

काव्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में शताब्दियों से विचार होता चला आया है। विभिन्न देश कालीन परिस्थितियों के साहित्य मर्मज्ञ अपनी परंपरा तथा संस्कृति द्वारा लक्ष्य स्थिर करते आए हैं। भारतीय साहित्याचार्यों ने काव्य का परम लक्ष्य रसानुभूति माना है, जिसे वे ब्रह्मानन्द-सहोदर मानते हैं। अन्य देशों में किसी न किसी रूप में आनन्द ही काव्य का लक्ष्य माना गया है। आचार्य शुक्ल काव्य का अन्तिम लक्ष्य हृदय का मुक्तावस्था में स्थित होना मानते हैं, जहाँ मानव का 'मेरा तेरा' के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठ कर सर्व सामान्य में लीन हो जाता है। आपकी दृष्टि से रसानुभूति की दशा यही है। काव्य का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए आपने दो बातों पर अपनी दृष्टि रखी है—(१) काव्य विधान, तथा (२) उसका जीवन से सम्बन्ध।

कवि की काव्य रचना में आत्मतुष्टि के साथ पर तुष्टि का भाव भी रहता है जिसके द्वारा प्रेषणीयता का सिद्धान्त सामने आता है। शुक्ल जी भी प्रेषण को काव्य का लक्ष्य मानते हैं "एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचना। यही कला का लक्ष्य होता है।" (काव्य में रहस्यवाद पृष्ठ १०४) अंग्रेजी समीक्षक एवरक्रांबी के अनुसार भी जिस साहित्य में प्रेषण शक्ति नहीं वह साहित्य नहीं है, कवि की अनुभूति पाठक तथा श्रोता तक पहुँचनी ही चाहिए। इस प्रेषण पर विचार करने

के पश्चात् पद्धति के सम्बन्ध में आचार्य लिखते हैं कि "इसके लिए (प्रेषण के लिए) दो बातें अपेक्षित होती हैं भाव पक्ष में तो अनुभूति का कवि के अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों या योग-क्षेम की वासनाओं से मुक्त या अलग होकर, लोक सामान्य भावभूमि पर प्राप्त होना (Impersonality and detachment) कला या विधान-पक्ष में उस अनुभूति के प्रेषण के लिए उपयुक्त भाषा कौशल" (काव्य में रहस्यवाद, पृष्ठ १०४)।

यह तो हुआ काव्य-विधान के लक्ष्य के सम्बन्ध में जीवन के सम्बन्ध में। काव्य का लक्ष्य आचार्य बहुत व्यापक मानते हैं। काव्य का जगत और जीवन से आप घनिष्ठ सम्बन्ध मानते है। वे, "कला कला के लिए" हैं इसके पक्षपाती नहीं हैं। आपका कथन है कि यदि काव्य और सदाचार का सम्बन्ध न होता तो भारतीय आचार्य रसानुभूति को " 'सत्त्वोद्रेकात्' (सत्त्वोद्रेक के कारण) न मानते; रसानुभूति था सत्त्व गुण से सम्बन्ध है, जिसका लगाव सदाचार से है, दुराचार से नहीं। दुराचार का संबंध तो रजोगुण तथा तमोगण से हैं।" रसानुभूति की दशा हृदय की मुक्तावस्था है। यह काव्य के द्वारा ही होती है "काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपसे हृदय को निकाल कर उसे

For evidently, whateve else literature may be, communication it must be no communication, no literature........The art concists in the communication established between author and reader .....literature communicates experience that is to say, the experience which lived in the author's mind must live again in the reader's mind.......The experience itself must be given, Transplanted from one mind to another.

—Lascelles Abercrombie M. A's Principles of literary criticism.

विश्व-व्यापिनी और त्रिकाल-वर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊंचे से ऊंचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य के साधन से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान् के लोकरक्षक और लोक-रंजक हृदय, से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। उस दशा में धर्म-कर्म के साथ, और ज्ञान के साथ उसका पूर्ण, सामंजस्य घटित हो जाता है।" (इंदौर वाला भाषण पृष्ठ ५०–५१) शुक्ल जी के, प्रत्येक स्थान पर काव्य-सम्बन्धी लक्ष्य के यही विचार दिखाई देते हैं। काव्य संसार में बद्ध प्राणी को, उसके कुंठित भावों को परिहार कर उनके परिष्कृत तथा प्रसारित रूप में उसे उच्च भाव भूमि पर ला देता है जहाँ सर्व सामान्य में तादात्म्य का वह अनुभव करता है। शुक्ल जी लिखते हैं कि "किसी अर्थ पिशाच कृपण को देखिए जिसने केवल अर्थलोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, श्रद्धा, भक्ति, आत्माभिमान आदि भावों को एकदम दवा दिया है और संसार के मार्मिक पक्ष से मुँह मोड़ लिया है। न सृष्टि के किसी रूपमाधुर्य को देख—कभी मुग्ध होता है। न किसी दीन दुखिया को देख कभी करुणा से द्रवीभूत होता है। न कोई अपमान सूचक बात सुनकर क्रुद्ध या क्षुब्ध होता है। यह भयानक मानसिक रोग है। ऐसों को सामने पाकर स्वभावतः यह मन में आता है कि क्या इनकी भी कोई दवा है। इनकी दवा कविता है। (चिन्तामणि पृष्ठ १९०)

काव्य इस लक्ष्य की पूर्ति कर मानव के भावों को व्यापक तथा विशाल बना देती है।

साहित्य मूल रूप में वाणी का व्यापार है। वाणी के अस्तित्व के बिना लेखक अथवा कवि अथवा कल्पना, अनुभूति आदि को लिए हुए भी व्याकुल ही रहेगा। कवि के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठता है कि उसके शब्द-विधान का क्या रूप रहे, नित्य प्रति जीवन में आने वाले शब्द-विधानों में कुछ वैशिष्ट अवश्य रहता है। साहित्य के अन्तर्गत इस विशिष्ट शब्द-विधान को ही वक्रता, वैलक्षण्य, वैचित्र्य, चमत्कार अथवा अनूठापन नाम दे दिए गए हैं। वक्रोक्ति को लेकर हमारे

काव्य और चमत्कार वाद

यहाँ वक्रोक्तिवाद का प्रतिपादन किया गया जिसने 'वक्रोक्तिः काव्य जीवितम्' मान लिया।

आचार्य शुक्ल द्वारा चमत्कारवाद को काव्य के अन्तर्गत कुछ विशेष सामान्य रूपों में ही माना है। चमत्कार स्वरूप को आपने इस प्रकार व्यक्त किया है—"चमत्कार" से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अन्तर्गत वर्ण विन्यास की विशेषता (जैसे अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में) वाक्य की वक्रता या वचन भङ्गी (जैसे काव्यर्थयन्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत वस्तुओं का अद्भुतत्व अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारुढ़, कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि में) इत्यादि बातें आती हैं।" (चिन्तामणि पृ० १६८)

चमत्कार अथवा वैचित्र्य द्वारा काव्य में मार्मिकता तथा प्रभावशालीनता आती है, शुक्ल जी चमत्कार को केवल उतने रूप तक ही स्वीकार करने के पक्षपाती है जो काव्य में प्रभावोत्पादिता लादे, परन्तु उसके विपरीत जो चमत्कार खिलवाड़ और तमाशा प्रस्तुत किया करे, वे उस रूप के प्रतिपादक नहीं। आप लिखते "चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और उसी मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढग पकड़ना पड़ता है।" (चिन्तामणि पृ० १६८) आप यहाँ कोरी वक्रता को काव्य स्वीकार न कर, वैचित्र्य को काव्य में उस अंग तक स्वीकार करते हैं जो भाव व अनुभूति से प्रेरित रहे। उपर्युक्त पंक्तियाँ स्पष्ट रूप से व्यक्त करती हैं कि भाव-सम्पन्न कवि अपनी पंक्तियों को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रायः अपने कथन को वक्र पत्र पर ले जाता है और कभी कभी कवि के भावावेग के कारण स्वभावतः ही कविता में वक्रता आ जाती है। आपका मत है—"उभड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती

है।" (चिन्तामणि पृ० १७६) अंग्रेजी समालोचक एबरक्रांबी भी काव्य-गत वक्रता का यही भावावेग बतलाते हैं।*

चमत्कार को काव्य के लिए शुक्ल जी प्रयोजनीय अवश्य मानते हैं, परन्तु उसे चिर सहयोगी मानने के लिए वे तैयार नहीं। वे उसे काव्य का अतिरिक्त गुण मानते हैं "भावना को गोचर और सजीव रूप देने के लिए, भाव की विमुक्त और स्वछंदगति के लिए, काव्य में वक्रता या वैचित्र्य अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं।" (इंदौर वाला भाषण) परन्तु "—एक अतिरिक्त गुण है जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है इसके बिना भी तन्मय करने वाली कविता बराबर हुई है और होती है',—(काव्य में रहस्यवाद है ७१) चमत्कार को दृष्टि में रख शुक्ल जी काव्य के दो रूप निर्धारित करते हैं—एक सूक्त काव्य और दूसरा भाव काव्य।

सूक्ति के सम्बन्ध में आप कहते हैं—"ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एक बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण विन्यास या पद—प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ, कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है।" (चिन्तामणि पृ० १७१) इनमें केवल अनूठापन मात्र रहता है, मनोरंजन हो सकता है; मन को रमाने, भावों को तीव्र करने तथा भावों को विकसित करने की शक्ति नहीं रहती। काव्य तथा सूक्ति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए आपने लिखा है—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन न कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढग के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार,

*"......The greater the inspiration the greater the art required to give it literary expression. Lascelles Abercrombie M A's principles of Literary criticism p. 17.

कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।" (चिन्तामणि पृ० १७१)।

काव्य तथा सूक्ति सम्बन्धी भेद और अन्य उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो गया कि शुक्ल जी वक्रता केवल "वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो" (चिन्तामणि पृ० १७४) तक ही मानने को तैयार हैं इसके साथ ही क्रोसे के प्रभाव वश आया हुआ वक्रोक्तिवाद जिसमें लक्षणा-शक्ति की प्रधानता रहती है, उसके अन्तर्गत भी वे प्रयोजन पर ध्यान रखने का प्रयत्न करते हैं।

भाषा का काव्य में अत्यन्त महत्व है, भाषा द्वारा ही कविता के अन्तर्गत भावों की अनुभूति कवि दूसरों तक पहुँचा सकता है। काव्य की सार्थकता भाषा पर अवलंबित रहती है, वह उसका मुख्य साधन है। आचार्य शुक्ल कविता में कही बात को 'चित्र-रूप' में सन्मुख लाने पर महत्व देते हैं। गोचर वस्तु व्यापारों के साथ माप अगोचर भावनाओं को भी गोचर व मूर्त्त रूप में अंकित करने का प्रयास आवश्यक है। आपका मत है कि "अगोचर बातों या भावनाओं को भी, जहाँ तक हो सकता है, कविता स्थूल गोचर रूप रखने का प्रयास करती है।........इस मूर्त-विधान के लिये वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है।" (चिन्तामणि पृ० १७५) भाषा में इस प्रकार की विशेष लक्षणाएँ प्रायः सब देशों और काल विशेष के अनुसार साहित्य में पाई जाती हैं।

कविता और भाषा

काव्य में भावना को गोचर रूप में प्रस्तुत करने के लिए कवि का एक दूसरी पद्धति का अनुसरण करना पड़ता है जिसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा वह विशेष रूप व्यापार-सूचक शब्द लाता है। आप लिखते हैं "भावना को मूर्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष-रूप व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं। (चिन्तामणि पृ० १७६) यहाँ भावना को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करने के अनेक रूप व्यापारों में से कवि कुछ रूप-व्यापारों को काव्य में इस प्रकार

चित्रित करता है जिसका प्रभाव हृदय पर अधिक देर तक पड़ता है। इसी कारण आपके अनुसार काव्य में शास्त्रगत पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग वर्जित माना जाता है जो 'अप्रतीतत्व' दोष कहे जाते हैं।

काव्य सम्बन्धी भाषा की तीसरी विशेषता शुक्ल जी के अनुसार है 'वर्ण-विन्यास' की "काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है जिस प्रकार मूर्त्त-विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिए वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ वर्णों का त्याग वृत्त-विधान, लय, अंत्यानुप्रास आदि नाद-सौन्दर्य के लिए ही है।" (चिन्तामणि पृ० १६६) नाद-सौंदर्य द्वारा काव्य के पूर्ण स्वरूप की प्रतिष्ठा में सहायता मिलती है। "नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती हैं।" (चिन्तामणि पृ० १७६)।

काव्य भाषा की चौथी विशेषता आप संस्कृत से हिन्दी में आई बताते हैं। यह है काव्य में व्यक्ति वाचक नामों का प्रयोग यहाँ नाम का प्रयोग रूप, गुण तथा कार्य की दृष्टि में रख कर करना आवश्यक है।

काव्य में चमत्कार का क्या स्थान है तथा शुक्ल जी का उसके सम्बन्ध में क्या मत है यह पहले व्यक्त किया जा चुका है जिससे पूर्ण स्पष्ट है कि आप 'चमत्कार वादी' सिद्धान्त के मानने वाले नहीं थे, उसका अर्थ विशेष रूप में मानने के ही आप तत्पर थे। अलंकार भी आपकी दृष्टि में काव्य का साधन मात्र है साध्य नहीं, यदि साध्य को भुला दिया जाए तो कविता अपने विकृत रूप में सामने आती है। आप अलंकार को "इस तरह के भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग को मानते हैं।" (चिन्तामणि पृ० १८१) अलंकार प्रस्तुत की शोभा व विशेषता बढ़ाने वाला है, यह प्रस्तुत प्रधान है, अप्रस्तुत गौण इसी कारण आप चमत्कार वादी कवियों और आचार्यों की जिनमें केशव तथा रीति काल के अनेक कवि आते हैं तीव्र आलोचना करते हैं। चमत्कार वादियों की मति से भिन्न आपने अलंकारों में 'रमणीयता' की स्थिति का प्रतिपादन करते हैं। प्रत्येक स्थान पर आपने

काव्य और अलंकार

प्रस्तुत की प्रधानता को प्रतिपादित किया है, अलंकार प्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया तथा भाव की अनुभूत मात्र को तीव्र कर देता है। अलंकार उसी प्रस्तुत की शोभा वृद्धि कर सकता है जिसके (प्रस्तुत) भाव व वस्तु स्वयं रमणीय हो। सुन्दर प्रस्तुत मात्र अलंकार द्वारा अधिक सुन्दर बन जाता है, असुन्दर अलंकारों से कोई सौन्दर्य ग्रहण नहीं करता।

आप भारतीय साहित्य-शास्त्र की ओर संकेत कर लिखते हैं कि, भारतीय साहित्य-शास्त्र में वैचित्र्य को प्रधानता देने वाले आचार्यों भामह, उद्भट आदि ने अलंकारों को प्रधानता दी, अलकार का अर्थ व्यापक रूप में भी किया जाने लगा, परन्तु आज वरार्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली पूर्ण रूप से स्पष्ट हो गई हैं। शुक्लजी लिखते हैं कि "अलकार प्रस्तुत या वरार्य-वस्तु नहीं; बल्कि वर्णन की भिन्न भिन्न प्रणालियाँ हैं, कहने के खास खास ढंग हैं।" (चिन्तामणि पृ० १८३) इसी कारण आप स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्ति को अलंकार न मान, वर्ण्य-वस्तु का निर्देश कहते हैं। अलंकार-निर्माण के सम्बन्ध में आपका विचार है कि सूक्ष्म दृष्टि वालों ने काव्य के सुन्दर और रमणीय स्थलों के कारणों की खोज की, उनमें पाई जाने वाली विशेषताओं को उन्होंने अलंकार का नाम दिया। अतः प्रस्तुत वस्तु तथा वर्णन-शैली यह दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं, जिसमें प्रस्तुत का प्रमुख और वर्णन शैली गौण। द्वितीय को प्रमुखता प्रदान करना काव्य की भावनाओं को नष्ट करना है।

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

कविता के शब्द वाह्य कारणों के विषय को मानव के अन्तः करण में 'चित्र' रूप में प्रतिबिम्बित कर देते हैं। यह प्रतिबिम्ब दृश्य के नाम से पुकारे जाते हैं। दृश्य भाषा की अभिधा शक्ति द्वारा दो रूपों में ग्रहण किये जाते हैं। दो रूप हैं- बिम्ब ग्रहण और अर्थ ग्रहण। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कवि का लक्ष्य बिम्ब ग्रहण की ओर अधिक रहता है, जो चित्रण 'विभाव' में दिखाई पड़ता है। विभाव के अन्तर्गत दो पक्ष रहते हैं:—

(१) आलम्बन (भाव का विषय)।
(२) आश्रय (भाव का अनुभव करने वाला)।

आलम्बन मनुष्य से लेकर कीट, पतङ्ग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई पदार्थ बन सकता है और आश्रय भावुक मनुष्य कहा जाएगा। आचार्य के मत से प्राचीन भारतीय कवियों ने संश्लिष्ट चित्रण कर बिम्ब-ग्रहण कराने में कल्पना की पूर्ण सहायता ली थी। कालीदास बाल्मीकि भवभूति के उदाहरण इससे भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए आप लिखते हैं कि राम लक्ष्मण के दो चित्र सामने रखे हैं एक में मूर्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं दूसरे में 'पयस्विनी के द्रुम-लताच्छादित तट पर पर्ण-कुटी के सामने दोनों भाई बैठे हैं। स्पष्ट ही है कि दूसरा चित्र तादात्म्य स्थापित कर 'साधारणी करण' के लिए अधिक उपयुक्त रहेगा।

प्राकृतिक वर्णन, मानव के भावों का आलम्बन अंग रूप में ही न होकर, स्वतंत्र रूप में भी होते हैं। मानव के हृदय में परम्परागत संस्कारों के कारण प्रकृति प्रेम वासना के रूप में छिपा रहता है। आप प्रेम की प्रतिष्ठा दो रूपों में मानते हैं—

(१) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा (२) साहचर्य द्वारा। साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित प्रेम स्वाभाविक और 'हेतु-ज्ञान शून्य प्रेम' माना जाता है यह प्रेम 'रूप-सौन्दर्य गत' प्रेम से बहुत ऊँचा माना जाता है। इस कारण शुक्लजी के मतानुसार जो प्रकृति का अवलोकन केवल विलास तथा शोभा और सजावट का आदर्श ले करते हैं वे "तमाशबीन हैं" उन्हें सच्चा सदस्य नहीं कहा जा सकता। आप लिखते हैं "काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करा के अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है।" (चिन्तामणि द्वि भाग पृ० ८) इस अनुभव के लिए प्रकृति को व्यापक दृष्टि से देखना अनिवार्य है। शुक्ल जी व्यापक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए बाल्मीकि के प्राकृतिक दृश्यों तथा फारस से प्रभावित महफिली शायरी की तुलना कर स्पष्ट करते हैं कि एक ओर जहाँ

कवि अपने व्यापक दृष्टिकोण से प्रकृति में एक-एक अंग को देखता है वहाँ दूसरी ओर दृष्टि 'चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस' तक ही सीमित रहती है। आप भारत और योरुप की काव्य-पद्धति में ही प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र देखते हैं। फारस की काव्य-पद्धति में काव्य का क्षेत्र आप परिमित मानते हैं।

शुक्ल जी साहचर्य-जन्य प्रेम को अत्यन्त महत्व देते हैं जो छोटी सी छोटी प्राकृतिक वस्तुओं में भी प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि अद्भुत, विशद असाधारण वस्तुएँ ही सामने रखी जाएँ। सच्चे, भावुक कवि का हृदय तो यथा अवसर समस्त वस्तुओं में तल्लीन होता है और स्वभावतः ही वह साधारण तथा असाधारण वस्तुओं का मेल करा विस्तृत मन मुग्धकारी दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। आपके मत से विस्तृत दृष्टिकोण वाले सहृदय में ही वह 'सत्व' रहता है "जो सत्ता-मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूति द्वारा लीन करके आत्म सत्ता के विभुत्व का आभास देता है।" यहीं आकर रागात्मक सम्बन्ध द्वारा मानव शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है, जो काव्य का महान् आदर्श है।

आप 'विभाव' आदि जो रस के संयोजक हैं उन्हें ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र मानते हैं, कवि की कल्पनाएँ जब इस पर न रह अलंकार आदि पर अधिक रहने लगीं तभी काव्य में आडम्बर फैलने लगा वाल्मीकि कालिदास, भवभूति आदि प्रकृति वर्णन में कल्पना का पूरा-पूरा प्रसार दिखाई देता है। कालिदास उपमाओं के लिये तथा भवभूति शब्दालंकार के लिए प्रसिद्ध माने जाते हैं परन्तु प्रकृति के रूप-माधुर्य को खोकर इन्होंने अपनी कल्पनाएँ इधर नहीं लगाई हैं। पाश्चात्य समीक्षकों का उदाहरण देकर आप लिखते हैं कि वे वर्णन के दो पक्ष लिया करते हैं—(१) ज्ञातृ पक्ष (Subjective) और (२) ज्ञेय-पक्ष (objective)। बाह्य प्रकृति का चित्रण-ज्ञेय-पक्ष और उन वस्तुओं का प्रभाव ज्ञातृ-पक्ष अतः यह स्वीकार कर लेना कि अलंकार प्रिय कवि ज्ञातृ-पक्ष को प्रधानता देते

है ठीक नहीं क्योंकि, काव्य में प्रधान प्रस्तुत ही रहता है दूसरे बिम्ब ग्रहण जो काव्य दृश्यों का प्रमुख ध्येय रहता है उसका स्पष्टीकरण और सम्बन्धों में समन्वय होना अति आवश्यक है। शुक्ल जी के अनुसार कालिदास के कुछ समय पूर्व दृश्य वर्णन के दो मार्ग हो गए स्थल वर्णन में तो वस्तु वर्णन की प्राचीन सूक्ष्मता बनी रही परन्तु ऋतु-वर्णन में अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा, रीति-ग्रन्थों ने इसका प्रसार किया, जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दी साहित्य के रीति-काल के आते-आते 'जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी वह बाजीगर का तमाशा करने लगी।"

हिन्दी साहित्य के प्राकृतिक दृश्यों का विश्लेषण कर आप लिखते हैं कि "हिन्दी कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य लक्ष्य च्युत हो चुका था। इसी से हिन्दी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है।" (चिन्तामणि पृ० द्वि० भा० २४) सूरदास, जायसी आदि में में आपके दृष्टिकोण से प्रकृति-चित्रण आलम्बन रूप में न हो, उद्दीपन मात्र रूप में किए गए हैं, केशव और रीति-काल तो इससे भरा पड़ा है, तुलसी में अवश्य परम्परागत पद्धति के रहते हुए भी आपको प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण आभासित होता है। आगे चल कर प्रकृति के नाम पर केवल उपहास-मात्र किया जाने लगा, वस्तुओं का नाम गिना देना, एक लम्बी चौड़ी नामावली प्रस्तुत कर, कवि-कर्म सम्पन्न किया जाने लगा शिशर और ग्रीष्म-ऋतु के वर्णन में उपचार की बातें बताई जाने लगीं। पूर्ववत् जैसे कहा जा चुका है कि शुक्ल जी प्राकृतिक दृश्यों को स्वतंत्र आलम्बन मानने के पक्षपाती हैं, इन दृश्यों में आप 'मूल-स्वरूप' तथा 'मूल परिस्थितियों' का अधिक आभास देखते हैं, अतः इन आलम्बनों का सूक्ष्म-चित्र प्रस्तुत कर देना रस-परिपाक के लिए ही काफी समझते हैं, यहाँ आश्रय के हर्ष विषाद का वर्णन अनिवार्य नहीं समझते।

काव्य के दृश्य-चित्रण के अन्तर्गत आप आकृति और मुद्रा का अत्यन्त

व्यापक क्षेत्र स्वीकार करते हैं। इन चित्रों को भी प्रस्तुत करने में सूक्ष्मता प्रमुख है, केवल उपमानों की सूची प्रस्तुत कर देने से चित्र स्पष्ट नहीं हो सकता है। कवि द्वारा वर्णित दृश्यों, स्थलों तथा रूपों के साथ जब मानव के परम्परागत्म-संस्कारों 'भावों' का प्रभाव पड़ता है, तब वे स्थल और भी अधिक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक होते हैं। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक मानव के संस्कार, भावनाओं के क्षेत्र को व्यापक कर देते हैं और मानव केवल प्रत्यक्ष दृश्यों से ही रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं करता वरन् भूतकाल से भी वह उतना ही सहन सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। एक भारतीय के हृदय में चित्रकूट का सहवास, गोस्वामी जी की पंक्तियों का चित्रकूट वर्णन इसी सम्बन्ध योजना के कारण विशेष भावों को उद्दीप्त कर देता है।

शुक्ल जी काव्य में 'आलम्बन' को ही मुख्य स्थान देते हैं, भावों को जाग्रत कराने के लिए 'आलम्बन' मात्र का ही शब्द-चित्र प्रस्तुत कर देना आपकी दृष्टि से अधिक आवश्कीय है, 'आश्रय' की योजना विधान इतना महत्व नहीं रखता। यदि काव्यगत वर्णन भावों में लीन करने की शक्ति रखता है तो केवल इसी प्रकार के वर्णन के आधार पर भी पाठक को पूर्ण रसानुभूति हो सकती है। अतः 'आलम्बन' रूप में लिए गए प्राकृतिक दृश्यों में आप पूर्ण रसानुभूति का अनुभव करते हैं, वे ही सच्चे अर्थों में प्राकृतिक-दृश्यों के वर्णन कहे जा सकते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में कविता सम्बन्धी आचार्य शुक्ल के विचार स्पष्ट किए जा चुके हैं। काव्य में यद्यपि आप रस को प्रधानता देते हैं, परन्तु प्राचीन आचार्यों के मत से विभिन्न आप उसे ब्रह्मानन्द न कह हृदय की मुक्तावस्था मानते हैं। यदि अन्य काव्य सम्बन्धी परिभाषाओं पर विचार किया जाए* तो प्रतीत होगा कि इन परिभाषाओं में किसी न किसी रूप

---

* 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' —आचार्य विश्वनाथ।

काव्य शान्ति के समय में स्मरण किए प्रवल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है' —वर्डसवर्थ।

में रस या भाव की प्रधानता जो विशेष अनुभूति का विधान करती है, स्वीकार किया गया है। आप काव्य के लक्ष्य अत्यन्त उच्च मानते हैं, कविता जो भाव-जगत और वाह्य जगत के सामंजस्य का विधान करती है मानव को उस स्तर पर ले जाती है जहाँ वह सर्व सामान्य के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है, इसी कारण आपकी काव्य परिभाषा में एक विशेषता का आभास मिलता है। शुक्ल जी को पूर्ण रूप से उपयोगिता वादी तो नहीं स्वीकार किया जा सकता वे अपने इस लक्ष्य को सदा अपने सामने रखते हुए प्रतीत होते हैं। चमत्कार वाद और अलंकार वादिता के आप पक्षपाती नहीं उसका प्रयोग आप संकुचित क्षेत्र तक ही स्वीकृत करते हैं।

काव्य के चार तत्व माने गए हैं—(१) कल्पना तत्व (२) भावना तत्व (३) बुद्धि तत्व (४) शैली तत्व। शुक्ल जी कल्पना और भावना तत्व को एक मानते हैं वे लिखते हैं "साहित्य वाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आज कल में लोग 'कल्पना'। कल्पना दो रूपों में विभाजित करते हैं—विधायक और ग्राहक, कवि में विधायक कल्पना तथा कुछ अंशों में पाठक में भी विधायक कल्पना को अनिवार्यता देते हैं। बुद्धि तत्व 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की रक्षा करता है, कविता सम्बन्धी आपके विचार इसके भी समर्थक प्रतीत होते हैं। शैली तत्व को ध्यान में रख कुछ विशेष गुणों से युक्त भाषा की प्रेषणीयता तथा अलंकार जो प्रस्तुत (वस्तु) के वर्णन और भावों के प्रसार में बाधक न हो वहाँ तक ही स्वीकार करते हैं।

'कविता को सादा, प्रत्यक्ष-मूलक और रागात्मक होना चाहिए'

—मिल्टन।

'कविता कल्पना और मनोवेगों द्वारा जीवन की व्याख्या करती है'

—हडसन।

'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है' —जयशंकर प्रसाद।

आलम्बन के रूप में किए गए प्रकृति-चित्रणों का वर्णन लेखक ने संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है। यह उद्धरण केवल भारतेन्दु-कालीन युग तक के ही लिए गए हैं हिन्दी साहित्य में प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन की न्यूनता तथा उद्दीपन की अधिकता के कारण भी आपने स्पष्ट किए हैं। अपने द्वारा प्रतिपादित काव्य के उच्च लक्ष्य को ध्यान में रख आप कविता मानव जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक समझते हैं जो पूर्ण रूप से सत्य है।

———

अध्याय ५

काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था सम्बन्धी विचार

ज्ञान तथा भावना का अन्तर स्पष्ट ही देखा जा सकता है। ज्ञानी, स्व और जगत में बहुत अन्तर रखता है, वहाँ भावुक दोनों में कोई भेद-भाव नहीं रखता। ज्ञानी अपने आत्म से सम्बन्धित वस्तुओं में और जगत से सम्बन्धित वस्तुओं में विशेष अन्तर का दृष्टिकोण रखे चलता है। लेकिन भावना के क्षेत्र में दोनों एक ही रहते हैं। भावना के इस व्यापक दृष्टिकोण के कारण मनुष्य को विस्तृत संसार में एक आनन्द मयी शक्ति की अनुभूति होती है, इस आनन्दमयी अनुभूति की चरम भावना भक्त के हृदय में भगवान के रूप की प्रतिष्ठा है। संसार में मानव की भावनाओं का व्यापक रूप ग्रहण कर लेना, संसार के प्राणियों में उस महान् शक्ति का आभास प्राप्त कर लेना, हमारे भारतीय धर्म शास्त्र में 'राम राज्य' की कल्पना के नाम से पुकारा जाने लगा। और ईसाइयों ने उसे 'आसमान की बादशाह' का नाम दिया। शुक्ल जी ईसाई धर्म की तुलना भारतीय भक्ति मार्ग से करके यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि भावना के क्षेत्र ने राम राज्य' और 'आसमान की बादशाहत' की कल्पना तो की गई लेकिन दोनों के वाह्य संसार सम्बन्धी दृष्टिकोणों में बहुत अन्तर ही रहा। ईसाइयों ने मनुष्य को परमात्मा की "प्रति-मूर्ति" कहा, परन्तु भारतीय भक्ति मार्ग ने संसार के मानव में नारायण के रूप का दर्शन प्राप्त किया। यहाँ लोक मंगल भावना के लिए यह समझ लेना अति आवश्यक है कि भारतीय भक्ति मार्ग ने नर में नारायण की सृष्टि तक, मानव की दृष्टि को

कितना व्यापक बना दिया। मानव की भावना संसार के नर में नारायण देखने लगी।

ब्रह्म के तीन स्वरूप स्वीकृत किए गए हैं। वे हैं—सत्, चित् और आनन्द, अर्थात् ब्रह्म सत्य रूप, चेतन रूप तथा आनन्द रूप। भक्ति मार्ग तथा काव्य केवल ब्रह्म के आनन्द रूप को ग्रहण करता है। आचार्य के विचारानुसार संसार में आनन्द की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएं पाई जाती हैं—साधनावस्था और सिद्धावस्था। जहाँ तक अभिव्यक्ति का प्रश्न है, मानव ब्रह्म के 'आनन्द' स्वरूप का क्रमिक रूप से संसार में आभास नहीं प्राप्त करता है। कभी यह आनन्द रूप प्रगट रहता है और कभी वह संसार की परिस्थितियों के कारण मानव की आँखों से छिप जाता है। यह एक स्वाभाविक सत्य है कि संसार में सदा बसन्त का उल्लास नहीं लहलहाता रहता। किसी छिन्नलता में क्रमशः वसन्त की आभा फूट पड़ती है। ससार के अत्याचार और पीड़ाओं में, आनन्द की ज्योति-शक्ति से अपना स्थान ढूढ़ लिया करती है और इस प्रकार तिरोहित होते हुए आनन्द के बीच लोक मंगल की भावना फिर से प्रकाश में आ जाती है।

आनन्द की अभिव्यक्ति की जो दो अवस्थाएँ कहीं गई हैं, उनमें से कुछ कवि या भक्त तो सिद्ध रूप को लेकर केवल सुख सौन्दर्य, माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम आदि की ओर ध्यान रखते हैं और कुछ आनन्द मंगल की साधनावस्था पर ध्यान रखने के कारण अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में लगी शक्तियों को संचारित करने वाले भावों—उत्साह, क्रोध, करुण भय आदि में भी रमणीयता का अनुभव करते हैं। साधनावस्था पर ध्यान रखने वाले जिस प्रकार आनन्द के फैले प्रकाश पर मुग्ध जो जाते हैं, उसी प्रकार आनन्द के प्रकाश के पूर्व आच्छादित अन्धकार को हटाने पर भी मुग्ध होते हैं साधनावस्था पर ध्यान रखने वाले कवियों को ही पूर्ण कवि माना जा सकता है, क्योंकि उनका ध्यान जीवन की किसी भी परिस्थिति में सौन्दर्य की अनुभूति करना रहता है। आचार्य ने आनन्द की अभिव्यक्ति के जो दो रूप बताये हैं—सिद्धावस्था केवल सौन्दर्य पर ध्यान रखने वाले और साधनावस्था अर्थात् सौन्दर्य,

सौन्दर्य को आच्छादित करने वाला आवरण और उसे हटाने का प्रयत्न इन सब बातों पर उसका ध्यान रहता है। इसके अतिरिक्त साधनावस्था में कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जिनका ध्यान सिद्धावस्था की ओर नहीं जाना आचार्य उनमें भूषण को मानते हैं। आनन्द की अभिव्यक्ति के रूपों को ध्यान में रख शुक्ल जी काव्य को दो भागों में बाँट देते हैं—

(१). आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले।

(२). आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले।

आनन्द की साधनावस्था के अन्तर्गत–रामायण, महाभारत, रघुवंश, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय, रामचरित मानस, पद्मावत, (उत्तरार्द्ध), हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश, भूषण आदि कवियों के वीर रसात्मक मुक्तक तथा आल्हा प्रचलित गीत, उर्दू के वीर रसात्मक मरसिये, योरोपीय भाषाओं में इलियड, ओडेसी, पैराडाइज लास्ट, रिवोल्ट आफ इसलाम तथा पुराने बैलड (Ballads) इत्यादि स्वीकृत किए गए हैं। आनन्द की सिद्धावस्था के उदाहरण हैं—आर्य्यासप्त शती, गाथा-सप्तशती, अमरुकशतक, गीत गोविन्द, सूर-सागर, कृष्ण भक्त कवियों की पदावली, बिहारी सतसई, रीतिकाल के कवियों के फुट कल शृंगारी पद्य, रास-पंचाध्यायी, अधिकांश छायावादी कविताएँ, उर्दू फारसी के शेर और गजलें, अंग्रेजी की लिरिक कविताएँ आदि हैं।

शुक्ल जी ने आनन्द अभिव्यक्ति के जिन दो स्वरूपों, प्रयत्न पक्ष तथा उपभोग पक्ष का विभाजन किया है, उसकी तुलना में वे डंटन के विचारों को रखते हैं। डंटन ने काव्य के दो रूप माने हैं—शक्ति-काव्य (Poetry as an energy) तथा कला-कव्य। (Poetry as an art) आचार्य के मतानुसार शक्ति-काव्य, आनन्द की साधनावस्था के अन्तर्गत आजाता है। क्योंकि दोनों समान ही हैं, साधनावस्था में कवि की दृष्टि प्रकाश के आच्छादित आवरण को दूर करने पर भी रहती है। इसके द्वारा पाठक के हृदय में प्रयत्न की स्थायी प्रेरणा बनी रहती है। डंटन के शक्ति काव्य

६

सम्बन्धित भी यही विचार हैं। परन्तु डंटन ने जिस कविता को शक्ति-काव्य के विपरीत कला-काव्य का नाम दिया है, वहाँ उसने केवल मनोरंजन को ध्यान में रखा है। आचार्य के मतानुसार कला की आवश्यकता तो दोनों प्रकार के काव्यों में होती है। साधनावस्था वाली कविता में यदि कला की पूर्णता नहीं हुई तो पाठकों पर स्थायी प्रभाव नहीं हो सकेगा। स्थायी प्रभाव के साथ, साधारणी करण का होना जो रसानुभूति के लिए भारतीय काव्य शास्त्र में आवश्यक स्वीकार किया गया है, सम्भव नहीं हो सकेगा। कला का अर्थ मनोरंजन मात्र करना काव्य के महत्व तथा प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है। इसका परिणाम योरुप के साहित्य में स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

आनन्द की साधनावस्था

समाज की स्थिति तथा रक्षा के लिये ब्रह्म के आनन्दमय रूप को ले एक शक्ति अवतीर्ण होती है। इस शक्ति द्वारा संसार में फैले अन्धकार के आवरण को दूर कर दिया जाता है। इस रूप में विरोधी भावों का सामंजस्य प्रस्फुटित होता है जिसके द्वारा कर्मक्षेत्र के सौन्दर्य की उत्पत्ति होती है। इस शक्ति में भीषणता के साथ मनोहरता और कटुता के साथ मधुरता रहती है जिसके प्रति मनुष्य मात्र का हृदय स्वभाविकतः आकर्षित हो जाता है। संसार में समाज की स्थिति और रक्षा तभी सम्भव है जब हृदय के कोमल और पौरुष दोनों भावों का उपयोग सम्यक रूप से यथास्थान किया जाए। इसी कारण आचार्य 'भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता की सामंजस्य ही लोक धर्म का सौन्दर्य" स्वीकार करते हैं। वाल्मीकि की कविता में इसी सौन्दर्य का प्रस्फुटन* किया गया है। सौन्दर्य को प्रकाश में लाने के लिए यह बात अति आवश्यक है कि संसार में जो असौन्दर्य का आवरण उस सौन्दर्य को आच्छादित कर लेता है उसे दूर किया जाए। जैसा ऊपर कहा गया है कि यह शाश्वत सत्य है कि ब्रह्म को आनन्द या सौन्दर्य रूप का आभास सदा नहीं हुआ करता, कभी

* चिन्ता मणि पृ० २१६

कभी वह असौन्दर्यमयी वस्तुओं से छुरता हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में आनन्दमय रूप जो संसार के लिए मंगलमय है, अधर्म और अमगल स्थिति को दूर कर के ही किया जा सकता है। अतः आनन्द की साधनावस्था वाले कविगण अत्याचार और अन्याय से युक्त असौन्दर्यमय जो संसार के लिए अमंगलमय रहता है उस पर ध्यान रख उसके प्रति किए जाने वाले संसार का शेष, ध्वंस का चित्र भी उपस्थित करता हैं। इन सब की उपस्थिति का मूल कारण यही रहता है कि वह उस निहित सौन्दय के प्रकाश को उपस्थित कर सके, जिसके द्वारा अधर्म का नाश और धर्म की विजय दिखाई जा सके। महाकवि व्यास ने भी अपने काव्य में दृष्टि इसी बात पर रखी है।

धर्म, वह व्यवस्था है जिसके द्वारा लोक-मंगल का 'अभ्युदय' तथा विधान किया जाए। इस धर्म-स्थापन में भगवान की पूर्ण कला के दर्शन प्राप्त होते हैं। अधर्म को दूर करने में जो धर्म-वृत्ति मिलती है उसका कोई भी रूप हो उसमें चाहे कोमलता व्याप्त हो, चाहे कठोरता वह भगवान की आनन्द-कला की ओर बढ़ती हुई हो, स्वीकार की जाएगी। धर्म-वृत्ति को जीत में सुन्दता रहती है और इसकी विजय 'धर्म-विजय' कहलाती है। जाति में पूर्ण रूपेण सुन्दरता व्याप्त रहती है, अतः सफलता प्राप्ति ही केवल सुन्दरता स्वीकार नहीं की जा सकती। असफलता प्राप्त हो जाने पर भी उसमें एक विशेष सौन्दर्य झलकता रहता है। वाल्मीकि और व्यास ने धर्म को सफलता का प्रदर्शन किया इस सफलता में उनकी दृष्टि उपदेश व्यक्त करने की ओर नहीं थी, धर्म की विजय भगवान पर मुग्ध होकर दिखाई गई है। राम यदि रावण का वध करने से और कृष्ण यदि जरासन्ध तथा औरतों को नाश करने में सफल नहीं होते तो भी उन्होंने अधर्म दूर करने के लिए जिस धर्म की गति को अपनाया था वह सौन्दर्य मय ही बना रहता, लेकिन राम और कृष्ण में भगवान की पूर्ण कला का दर्शन नहीं किया जा सकता था, क्योंकि भगवान की शक्ति तो अनष्ट कारी मानी गई है। जिसके आगे अधर्म कभी टिक नहींसकता।

उपर्युक्त पंक्तियों में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि जिस प्रकार

धर्म प्राप्ति की गति की विजय में सौन्दर्य रहता है उसी प्रकार गति की विफलता में भी सौन्दर्य रहता है, जिसके आभास को अनेक कवियों ने व्यक्त किया है। अंग्रेजी के कवि शैली संसार में फैले अन्याय और अत्याचार का दमन कर मनुष्य मात्र के बीच प्रेम भाव का स्वप्न देखने वाले आदि थे। उन्होंने अपने 'इस्लाम का विप्लव' नामक महाकाव्य में नायक और नायिका द्वारा संसार में मंगल-शक्ति की स्थापना करने के लिए अत्याचारों का दमन और विजय का आभास दे मनोहारी रूप दिया परन्तु अन्त में वह शक्ति असफल हो जाती है और संसार फिर से अन्धकार के आवरण से आच्छादित हो जाजा है।

अधिकतर कवि गण मंगलमयी तथा अमंगल मयी शक्ति का द्वन्द दिखा अन्त में मंगलमयी शक्ति की विजय दिखा देते हैं। मंगलमयी शक्ति की विजय प्रदर्शित करना, उपदेश देना अथवा शिक्षा के सिद्धान्त निरोपित करना नहीं समझना चाहिए। आचार्य में मतानुसार अस्वभाविकता का प्रदर्शन तो उसी समय होगा जब धर्म-गति का विधान ठीक तरह नहीं किया जाएगा और प्रत्येक अवसर पर दुष्ट को असफल दिखाया जाए और सत्पात्र को सफलता दिलाई जाए क्योंकि साधारणतः जीवन में ऐसा नहीं होता। अतः सच्चा भाव कभी भी इस प्रकार का विधान नहीं करेगा, जो स्वाभाविक है कि संसार में दुष्पात्र शक्ति संचित करते हैं, धर्म की शक्ति उसका दमन करने आगे आती है, कभी कभी बार बार उसे असफल होना पड़ता है, तब कभी अन्त में जाकर वह अधर्म को पराभूत कर पाता है। अतः सच्चा कवि धर्म की सफलता सौन्दर्य का प्रभाव डालने के लिए करता है जिसके द्वारा स्वभावतः ही मानव जीवन के सत् कर्मों के प्रति प्रेरित तथा दुष्कर्मों से अलग रहने की भावना ग्रहण करता है। यहाँ उसका उद्देश्य उपदेश देना नहीं होता, कि सत्कर्मों के यह विशेष फल हुआ करते हैं और दुष्कर्मों के यह विशेष फल होते हैं। इस बात को ध्यान में रख यह समझना अति आवश्यक है कि धर्म, अधर्म में विरोध में, धर्म की विजय, कर्म सौन्दर्य के प्रदान को अधिक स्थायी बनाने के लिए की जाती है।

कवि सौन्दर्य से सदा प्रभावित होता है; इस सौन्दर्य से प्रभावित हो वह दूसरों को भी उससे प्रभावित करना चाहता है। कवि की कल्पना में अनेक प्रकार के सौन्दर्य का एकीकरण हो भव्य रूप ग्रहण कर लेता है। उसी भव्य रूप को वह संसार के सामने रख दिया करता है। राम और कृष्ण में जहाँ कर्म सौन्दर्य मिलता है वहाँ रूप-सौन्दर्य भी दिखाई देता है। इसका कारण यही है कि मानव कर्म सौन्दर्य तथा रूप-सौन्दर्य के समन्वय द्वारा अधिक प्रभावित होता है वह 'आकृति और गुण, सौन्दर्य तथा सुशीलता एक ही अनुष्ठान में देखना चाहता है।" वाह्य तथा आंतरिक जगत के सौन्दर्य के एकीकरण के आधार पर भारतीय शिक्षा-शालियों ने नायक को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित किया। धीरोदात्त नायक में पाई जाने वाली रूप-सौन्दर्य तथा कर्म सौन्दर्य गत विशेषताओं को भारतीय हृदय किसी भी प्रकार परित्यक्त नहीं कर सकता। आचार्य का मत है कि यह भाव सब साहित्यों में दिखाई देता है। अँग्रेजी कवि शैली जिन्होंने राज, धर्म समाज आदि सब प्रकार की व्यवस्थाओं का विरोध किया था, उन्होंने भी अपने प्रबन्ध-काव्यों में रूप-सौन्दर्य और कर्म सौन्दर्य को एक कर दिखाया है। उनके नायक, नायिका में सदा यह बात पाई जाती है कि वे जहाँ अन्याय और अत्याचार सहते सहते प्राण तक उत्सर्ग करने को तत्पर हो जाते हैं, वहाँ उनका रूप-सौन्दर्य भी कम आकर्षक नहीं रहता।

परम्परा से किसी पात्र के सम्बन्ध में जो भावनाएँ चली आती हैं, उनका एक दम परित्याग कर नवीन रूप देना सम्भव नहीं हो पाता। इस असम्भावना का कारण यही है कि मानव सहसा किसी के परिवर्तन रूप को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता है। यदि कहीं यह परि-वर्तन दिखाई भी देता है, तो आचार्य का मत है कि यह बात किसी 'वाद' के प्रभाव के कारण होती है। परन्तु इस प्रकार रूप परिवर्तित कर देने से अनेक प्रकार की गड़बड़ी भी उत्पन्न हो सकती है। गड़बड़ी की जो बात आपने कही वह इसीलिए कि उस पात्र को संसार के मानव को नए रूप में ग्रहण करना होगा। उदाहरणार्थ कोई भी कवि राम को शारीरिक

सुन्दरता कुम्भकरण में और कुम्भकरण की कुरूपता राम में नहीं दिखा सकता। माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद के चरित्र में कर्म-सौन्दर्य तथा रूप-सौन्दर्य का एकीकरण किया, परन्तु परम्परागत प्रसिद्ध लक्षण को वे कुरूप नहीं कह सके। आचार्य का मत है कि इस प्रकार का परिवर्तन पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव-वश हुआ। जिसके द्वारा कविगण प्राचीन धारणा तो छोड़ नवीनता का रूप देने लगे, इसे हम काव्यानुभूति का प्रभाव नहीं स्वीकार कर सकते। यही बात नवीनचन्द से 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य में कृष्ण के आदर्श को परिवर्तित कर किया है। इस दृश्य से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्राचीन आख्यानों तथा पात्रों में मर्मानुभूति सम्बन्धी नवीनताएँ आ ही नहीं सकती। कुशल कवि प्राचीन पात्रों को अपना कर नवीनता का यद्यपि समावेश कर देते हैं, परन्तु वे परम्परा गत आदर्शों को बनाए रखते हैं। आचार्य का मत है कि नवीन परिस्थितियों के आधार पर, अनेक पात्रों के चरित्रों का निर्माण किया जा सकता है, इसलिए नवीनता लाने के झोंके में प्राचीन पात्रों के रूपों को नष्ट भ्रष्ट करना व्यर्थ है।

समाज की रक्षा और स्थिति के लिए शुक्ल जी हृदय की कोमल और पौरुष भावनाओं दोनों का यथा स्थान उपयोग करने के पक्ष में हैं; इस बात को ऊपर व्यक्त किया जा चुका है। उनका विचार है कि कर्म-सौन्दर्य का रूप तभी पूर्ण रूप में स्फुटित होगा जब हम दीनों पर दया करें और अत्याचारी का क्रोध पूर्वक दमन करे। यदि हर समय अत्याचारी पर दया का प्रदर्शन किया जाएगा तो उसकी उच्छृंखलता अवश्य विकसित हो जाएगी। सम्भव है कि वह इससे लाभ उठा संसार को और भी अधिक पीड़ित करने लगे। वे इसी कारण 'रामचरित मानस' के राम चरित पर मुग्ध हैं। राम का रूप लोक-रक्षक तथा लोक संस्थापक का है। इस दृष्टिकोण से आप टाल्सटाय की आलोचना करते हैं। प्रेम और भ्रातृ भाव के प्रदर्शन मात्र में काव्य का उत्कर्ष समझ लेना कर्म सौन्दर्य की अवहेलना करना है। यहाँ प्रेम और भ्रातृभाव के आदर्शों के अनुसार अत्याचारी पर सदा दया दिखाई जायगी, उसे समझाया जाएगा,

प्रेम, सेवा आदि की जाएगी तथा दया की भीख मांगी जाएगी। टाल्सटाय का यह आदर्श उस कर्म-सौन्दर्य का विधान नहीं कर सकता जिस पर आचार्य मुग्ध हैं। आपका मत है कि हृदय के दो पक्ष रहते हैं—कोमल और कठोर। कोमल मात्र को अपना कर कठोर का परित्याग करना अस्वभाविक बात है। यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि हृदय के एक पक्ष को बिल्कुल ही अलग कर दिया जाय। काव्य-सौन्दर्य तो तभी मिलेगा जब हृदय के दोनों रूपों का समन्वय कर मंगल भावना का विधान किया जाए।

भावों की प्रक्रिया के सम्बन्ध में आचार्य का मत है कि भावों का कुछ भाग आश्रय की चेतना में और कुछ अन्त-स्संज्ञा में रहता है। संचारी भाव संचरण-काल में कभी कभी उनके स्थायी भाव कारण-रूस से अस्तस्संज्ञा में आ जाता है। आश्रय में जैसे एक स्थायी भाव रहता है और अनेक भाव तथा अन्तं-दशाएँ संचारी रूप में आती है। उसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य के प्रधान पात्र में एक मूल-प्रेरक भाव अथवा बीज भाव रहता है। इसके द्वारा घटना चक्र चलता है और अनेक भावों का स्फुरण हुआ करता है। प्रधान-पात्र में पाए जाने वाले बीज भाव में कोमल और कठोर दोनों भाव रहते हैं। अतः यदि बीज भाव मंगलकारी प्रकृति का हुआ तो उससे प्रेरित भाव कठोर होने पर भी सुन्दर प्रतीत होते हैं। इस प्रकार का बीज भाव जिस पात्र में होगा, पाठक और दर्शक का पूर्ण तादात्म्य के साथ रहेगा और वह रसानुभूति प्राप्त करेगा। बीजभाव वाले पात्र का विरोध जिन पात्रों द्वारा किया जाता है उनमें रस की निष्पत्ति करने वाले अवयव चाहे उपस्थित हो, परन्तु उनके साथ पाठकों का तादात्म्य नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ रावण द्वारा। राम के प्रति दिखाई गई घृणा में इस के अवयव होने पर भी रसानुभूति सम्भव नहीं है। बीज भाव के सम्बन्ध में उसके कठोर और तीक्ष्ण भावों के प्रति जिस सुन्दरता का स्पष्टीकरण ऊपर व्यक्त किया है, उससे सम्बन्धित एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि बीजभाव जितना होगा अर्थात् उसका क्षेत्र उससे सम्बन्धित घटनाएँ जितने विस्तृत लोक कल्याण को

दृष्टि में रख कर की जाएँगी, उसकी सुन्दरता भी उतनी ही मात्रा में अधिक आँकी जायगी। उदाहरणार्थ यदि बीजभाव द्वारा उत्पन्न करुणा केवल पारिवारिक-जीवन तक संकुचित ही रहेगी तो उसमें सुन्दरता की मात्रा का अवश्य कम आभास होगा, परन्तु यदि यह करुणा देशव्यापी अथवा विश्वव्यापी होगी तो सुन्दरता की मात्रा उतनी ही विस्तृत रूप में दिखाई देगी।

आचार्य, दो भाव करुणा और प्रेम को मंगल-विधायक मानते हैं। लोक मंगल की भावना जिसके मूल में संसार की रक्षा और स्थिति के भाव निहित रहते हैं, इन्हीं भावों द्वारा प्राप्त होता है। करुणा में रक्षा भाव और प्रेम म आनन्द के भाव छिपे रहते हैं। लोक-कल्याण में रक्षा का प्रथम महत्व है, अत्याचार और अन्याय से रक्षा कर लेने के पश्चात् आनन्द की प्राप्ति होती है। लोक-कल्याण में रक्षा की प्रथम स्थिति होने के कारण साधनावस्था वाले काव्यों का मुख्य भाव करुणा रहता है। इसी कारण भवभूति में करुणा को एक मात्र रस कहा। वाल्मीकि-रामायण में भी मुख्य रस करुणा है, जिसका प्रादुर्भाव क्रौंच-वध से होता है। पन्द्रहवें सर्ग में देवता ब्रह्म से रावण के अत्याचारों का वर्णन करते हैं, उसमें भी करुणा मूल रूप में रहती है। लोक कल्याण के लिए लाई गई शक्ति का आभास ताड़का और मारीच के प्रसंगों में मिलता है, पचवटी में इस शक्ति का विकास होता है। सीता हरण का प्रसंग आत्म गौरव और दाम्पत्य प्रेम के कारण इस शक्ति में सहायक होता है, जो लोक-कल्याण के लिए अधिक गति देता है। उपर्युक्त पंक्तियों में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'बीजभाव' जितना अधिक व्यापक दृष्टिकोण रखेगा. उसके कार्यों में उतनी ही अधिक सुन्दरता का आभास होगा। अतः यदि यहां राम का क्रोध केवल दाम्पत्य प्रेम और आत्म-गौरव तक सीमित रहता, तो उसमें वह विशेष सौन्दर्य नहीं झलकता जो लोक कल्याण को दृष्टि में रखने वाले क्रोध में मिलता है। संसार के अधर्म के प्रति उत्पन्न करुणा, जब अपनी शक्ति द्वारा सफलता प्राप्त कर लेती है। अतः संसार अधर्म के कष्टों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। उस समय 'रामराज्य'

की स्थापना होती है। जहाँ आनन्द का विधान किया जाता है। अधिक से अधिक प्रेम और सुख की प्राप्ति का अवसर उसी समय आता है।

आचार्य टाल्सटाय के प्रेम और भ्रातृभाव सम्बन्धित आदर्श की व्याख्या की जा चुकी है। इस आदर्श के प्रति कुलहृदय की कीमत तथा पौरुष भावों के सामंजस्य का क्या महत्व है इस पर भी अपने विचार प्रगट किए जा चुके हैं। यहाँ फिर वे स्पष्ट कहना चाहते हैं कि काव्य का उत्कर्ष केवल कोमल वृत्तियों की व्यंजना में नहीं रहता। प्रचण्ड भावों के साथ यदि करुणा पूर्ण रूपेण रहे, तो काव्य में सौन्दर्य की पूरी पूरी व्यंजना होगी। शेली के महाकाव्य 'इस्लाम का विद्रोह' में टाल्सटाय के आदर्श उपदेश, प्रेम, दया की मीरा आदि बातें नहीं मिलती। उसके नायक और नायिका में पूर्ण कर्म-सौन्दर्य मिलता है। उनमें अत्याचारियों के प्रति क्रोध, अत्याचारियों के भय से भयभीत व्यक्तियों का अत्याचारियों की सेवा करना उपेक्षा की दृष्टि से देखना और उनको आगे बढ़ने की प्रेरणा देना आदि बातें मिलती हैं। शेली ने काव्यकला में प्रेम को प्रधानता अवश्य दी, परन्तु उपभोग पक्ष तक ही सीमित नहीं रहे। उसने प्रेम के साथ विविध भावों का पूर्ण समन्वय किया है। इसी कारण उसमें आनन्द को अभिव्यक्ति करने वाले उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष दोनों का पूरा पूरा समावेश मिलता है।

आचार्य का विचार है कि टाल्सटाय द्वारा प्रतिपादित प्रेम और भ्रातृभाव का आदर्श साम्प्रदायिकता के कारण था। उनमें पाया जाने वाला प्रयत्न पक्ष केवल अत्याचारियों को उपदेश देना, कष्ट सहना तथा पीड़ितों की सेवा करने तक सीमित रहता है। इस प्रकार के कार्यों का प्रदर्शन वे 'अध्यात्मिक शक्ति' का प्रभाव समझते हैं। उन लोगों ने जिसे 'आध्यात्मिक शक्ति' का नाम दिया उसे भारतवासी सत्वगुण के नाम से पुकारते हैं। आपका मत है कि इसी कलावाद के प्रभाव से भारतीय भाषाओं में भी 'आध्यात्मिक' शब्द का प्रयोग होने लगा है, परन्तु काव्य और कला के क्षेत्र में इस शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है।

सात्विक गुणों का जहाँ तक प्रश्न है भारतीय काव्य-कला भी इसे

मुख्य रूप में ग्रहण करती है। काव्य में पाए जाने वाले बीजभाव और उसके प्रकाशन दोनों में रूप का विधान किया जाता है। इस बात को ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि लोक-मंगल की दृष्टि से करुणा और प्रेम दो भाव मुख्य स्वीकार किए गए हैं। तथा प्रचंड भावों के साथ इनमें से यदि कोई एक भाव साथ रहेगा तभी साधारणीकरण और सौन्दर्य का पूर्ण प्रकाशन हो सकेगा। इस बात पर ध्यान देना अति आवश्यक है कि करुणा और प्रेम जब व्यापक दृष्टिकोण में पाए जाते हैं तब उनमें सात्विक गुण ही मुख्य रूप से रहता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीन गुणों में से सतोगुण का ही विशेष महत्व है। हमारे यहाँ 'सत' के दो अर्थ किए जाते हैं—सत्य रूप और शुभ-रूप। आचार्य का मत है कि जब संसार में तीन गुण पाए जाते हैं तब पूर्ण रूप से लोक-कल्याण के लिए जिसके द्वारा आनन्द का प्रकाशन हो सके यही विधान ठीक होगा कि सत्वगुण प्रमुख रहे और रजो तथा तमोगुण उसके आधीन रह कार्य करें। यदि इस तरह का विधान सम्भव हो सकेगा तो यह दोनों गुण अपनी अपनी प्रवृत्ति अनुसार कभी सम्भव कार्य करते देखे जाए परन्तु पूर्ण रूप में सत्व ही प्रधान रहेगा और उसी के उद्देश्य पूर्ति में यह गुण कार्य करते जाएंगे। इस प्रकार की व्यवस्था में प्रचंड भाव भी सत के रूप में रंगे दिखाई देंगे। यही कारण है कि भारतीय अवतारों के रूप में कोमल और कठोर दोनों भावों का विधान किया गया है। वे जहाँ एक और बज्र के समान कठोर दिखाई देते हैं वहाँ दूसरी ओर कुसुम से भी कोमल भाव रखते हैं।

लोक-कल्याण भावना का आचार्य के विचारों और सिद्धान्तों में सब से प्रमुख स्थान रहा है। इसी आधार को सामने रख कर उन्होंने अपने साहित्य सम्बन्धी तथा काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्थिरता दी है। धर्म का रूप भी इसी आधार पर स्थिर किया गया है। वे उसी धर्म, साहित्य काव्य को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं जो लोक-कल्याणकारी हो, जिसके द्वारा समाज की रक्षा और स्थिति सम्भव हो। काव्य-कला के जो दो रूप स्वीकार किए गए हैं उसमें, प्रयत्न-पक्ष को प्रधानता दी है, क्योंकि इस

कर्म-सौन्दर्य स्पष्ट झलकता है। वे 'प्रवृत्ति' के समर्थ के जो इसी प्रयत्न-पक्ष द्वारा सम्भव हो सकती है। उपभोग-पक्ष पर ध्यान रखने वाली कविता को उन्होंने अधिक महत्व नहीं दिया है। वे टालसटाय के मत का विरोध करते हैं जो केवल कोमल वृत्तियों को लेकर चलते हैं, आपके अनुसार कोमल और कठोर दोनों वृत्तियों का पूर्ण सामंजस्य लोक-कल्याण के विधान के लिए अति आवश्यक है। इसी कारण राम को वे अपना आदर्श मानते हैं जिनके रूप में लोक-कल्याणकारी दोनों वृत्तियों का समन्वय मिलता है। करुणा और प्रेम आपकी दृष्टि से जो लोक की रक्षा और रंजन करते हैं उनमें सात्विक गुण प्रमुख रूप से रहता है। इन भावों का क्षेत्र जितना विस्तृत होगा उतना ही अधिक सौन्दर्य का प्रस्फुटन किया जा सकेगा। करुणा जिसमें रक्षा के भाव मूल रूप से निहित रहते हैं, प्रयत्न-पक्ष वाले काव्यों में इनकी ही प्रधानता पाई जाती है।

————

अध्याय ६

साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद सम्बन्धी विच

साधारणीकरण का साधारण शब्दों में अर्थ है काव्य-भावना द्वार पाठक या श्रोता का भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना। किस काव्य के पढ़ते समय अथवा नाटक देखते समय पाठ

साधारणीकरण

और दर्शक इतने तन्मय हो जाया करते हैं कि स्वयं की भावना से दूर हो, वर्णन के साथ हँस और रोते हैं, इसी दशा को साधारणीकरण कहा जाता है। यह प्रमु किसी एक पाठक और दर्शक तक सीमित नहीं रहता, मनुष्य मात्र हृदय को प्रभावित करने की शक्ति रखने के कारण एक साथ अने व्यक्ति एक ही भावना का अनुभव करते हैं। साधारणीकरण के सम्बन में आचार्य लिखते हैं "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन को पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"* यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारा हृदय कवि, आश्रय, आलम्बन, भाव—इन से किसके साथ साधारणीकरण करता है। परिभाषा से स्पष्ट है कि शुक्ल जी साधारणीकरण में आलम्बनत्व में धर्म को प्रधानता देते हैं।

इस सम्बन्ध में आचार्य साधारणीकरण के आविष्कारक भट्टनायक से प्रभावित प्रतीत होते हैं जिसके अनुसार साधारणीकरण होने तक की प्रक्रिया में तीन शक्तियाँ होती हैं—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व।

* चिन्तामणि पृ० २२७।

भट्टनायक के अनुसार भोजक वृत्ति द्वारा पूज्य भाव के आलंबन अपने विशेषत्व का त्याग करके 'साधारण' रूप में उपस्थित होते हैं। वे विशेषता के आवरण का त्याग कर, व्यक्तिमात्र रह जाते हैं। अतः साधारणीकरण कवि-कर्म सापेक्ष्य होता है; कवि अपनी कला द्वारा आलंबन को इस रूप में उपस्थित करे कि वह दर्शक, श्रोता व पाठक को साधारण रूप में प्रतीत हो। सर्व साधारण के हृदय में काव्यगत भाव उदय करने के लिए यह आवश्यक है कि कवि को लोकहृदय की पहिचान हो, जो यह देख सके कि सामान्य मानव हृदय किस के द्वारा प्रभावित होगा? इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य शृंगार तथा रौद्र रस का उदाहरण देते हैं। काव्य में यदि किसी कुरूप और दुःशीला स्त्री का चरित्र वर्णित कर एक पात्र से प्रेम कराया गया है तो वह केवल भावप्रदर्शक मात्र होगा उसके द्वारा सर्व साधारण के हृदय में शृंगार के भाव नहीं उत्पन्न किए जा सकते। इसी प्रकार रौद्र रस वार्णित करने के लिए आलम्बन का चित्रण इस रूप में करना अति आवश्य है कि वह किसी भी व्यक्ति के क्रोध का पात्र बन जाए। रसानुभूति के लिए भाव और विभाव का पूर्ण सामञ्जस्य अति आवश्यक है। रसानुभव के उपयुक्त साधारणीकरण के लिए आलंबन का ऐसा आकर्षण भरा होना आवश्यक है कि वह मनुष्य मात्र के भाव का विषय बन जाए। यहाँ आकर्षण जो आलंबन में हो उसमें केवल नैसर्गिकता की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि उसमें ऐसे कर्म की स्थापना हो जो मनुष्य मात्र के भाव का विषय बन सके।

शुक्ल जी के कथनानुसार साहित्य का कार्य 'बिम्ब ग्रहण' कराना होता है 'अर्थ ग्रहण' मात्र से उसका कार्य नहीं चलता। 'बिम्ब ग्रहण' साधारण वस्तु का नहीं हो सकता उसके लिए तो व्यक्ति या विशिष्ट वस्तु का होना अति आवश्यक है। अनेक व्यक्तियों के रूप गुण द्वारा किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर देना तर्क का काम है। काव्य में तो सदा 'बिम्ब ग्रहण' पर ही ध्यान रहता है। अतः साधारणीकरण की प्राप्ति कराने के लिए यह अति आवश्यक है कि जो विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति

काव्य में लाया जाए वह सामान्य का प्रतिनिधि हो, उसकी अनुभूति विचित्र और निराली नहीं होनी चाहिए अन्यथा सर्व साधारण का उसके साथ तादात्म्य अनुभव करना कठिन हो जाएगा। उदाहरणार्थ यह कहना, 'मनुष्य क्रोध में बावला हो जाता है' सामान्य बात है, काव्य नहीं, काव्य तो क्रोधित मनुष्य को कल्पना में खड़ा कर देता है। यह कल्पना सदा व्यक्ति विशेष की होती है, सामान्य बात की मूर्त्त भावना नहीं हो सकती।

विभावन व्यापार के अन्तर्गत जो यह कहा जाता है कि 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं।' उसका भी यही तात्पर्य है कि पाठक के मन में कुछ समय के लिए यह भेद-भाव नहीं रहता कि यह आलम्बन किसका है? सामान्य का यहाँ यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि रसानुभूति के अवसर पर आलम्बन विशेष व्यक्ति के रूप में न आकर सामान्य व्यक्ति मात्र में आते हैं जहाँ अर्थ ग्रहण ही आपेक्षित होता है। साधारणीकरण का भी यही अभिप्राय है कि उसमें वर्णित वस्तु विशेष जो आती है, वह जैसे काव्य में आश्रय भाव का आलम्बन होती है उसी प्रकार सब पाठकों का आलम्बन बन जाती है। यहाँ पाठक की कल्पना में व्यक्ति विशेष ही आता है, यह कभी हो सकता है कि पाठक की विशेष मनोवृत्ति के कारण उसी के समान वाली कोई वस्तु उपस्थित हो जाए। उदाहरणार्थ आचार्य लिखते हैं कि शृंगार के पद सुन सामान्य व्यक्ति को सुन्दरी की कल्पित मूर्ति सामने आएगी परन्तु यदि किसी को किसी युवती से प्रेम है तो सम्भव है उस युवती विशेष की मूर्ति उसके सामने उपस्थित हो जाए। यहाँ ध्यान देने की यह बात है कि कल्पना की मूर्ति विशेष ही की होगी और वह भी ऐसी जो उस भाव का आलम्बन बन सके। उपर्युक्त पंक्तियों में जो बात कही गई है आचार्य उसी बात की पुष्टि करते हैं, वे आलम्बन के साथ साधारणीकरण मानते हैं "साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।" साधारणीकरण के लिए व्यक्ति जो प्रस्तुत किया जाएगा वह तो विशेष ही रहेगा, परन्तु उससे सम्बन्धित धर्म ऐसे होंगे जो सर्व सामान्य के बन सकें यह बात शृंगार और रौद्र रस

का उदहरण देकर व्यक्त की जा चुकी है। सर्व सामान्य का आलम्बन बनाने के लिए रौद्र रस में यह आवश्यक है कि आलम्बन की क्रूरता, अन्याय, अत्याचार इस रूप में हो जो मनुष्य मात्र के क्रोध का पात्र बन सके।

शुक्ल जी साधारणी करण में आलम्बनत्व के धर्म को प्रधानता देते हैं और आश्रय से तादात्म्य मानते हैं, यहाँ वे पुराने आचार्यों की एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। आपके मतानुसार साहित्याचार्यों ने साधारणीकरण प्रतिपादन में, श्रोता और आश्रय के तादात्म्य का ही विचार किया। यहाँ आश्रय, आलम्बन के जिस भाव की व्यंजना करता है, श्रोता रस के रूप में उसका अनुभव करता है। परन्तु शुक्ल जी के मतानुसार रस के मध्यम कोटि की एक दशा और है जिसमें आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य न होकर उसके आलम्बन के साथ साधारणी करण नहीं होता उदाहरणार्थ यदि कोई क्रूर पात्र निरपराध व्यक्ति पर क्रोधित हो रहा है, तो पाठक के मन में क्रोध की रसात्मकता जन्म नहीं लेगी। आश्रय से तादात्म्य करने के विपरीत क्रोध प्रगट करने वाले पात्र के प्रति घृणा का भाव उदय होगा। इसी को आचार्य, शील की दृष्टि से—श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का आलम्बन होना मानते हैं। इस प्रभाव को वे मध्यम कोटि की रसात्मकता कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि इस स्थिति में आश्रय का आलम्बन पाठक का आलम्बन न होकर, आश्रय स्वयं पाठक के किसी भाव का आलम्बन बन जाता है। इस दशा में भी आचार्य तादात्म्य और साधारणी करण होना स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि साधारण स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य का अनुभव कर उसके आलम्बनत्व के धर्म का साधारणी करण होता है और यहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य न किए जाने के कारण, तादात्म्य कवि के उस भाव के साथ होता है जिसको ध्यान में रख पात्र का रूप प्रस्तुत किया जाता है और यह पात्र कवि के जिस भाव का आलम्बन होता है, पाठक का भी वही आलम्बन बन जाता है। आचार्य इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हैं कि

यदि कवि ने केवल हिमालय का वर्णन मात्र किया है, तो आश्रय यहाँ स्वयं कवि रहता है। कवि के भाव के साथ पाठक तादात्म्य करता है और कवि का आलम्बन पाठक का आलम्बन बन जाता है।

साहित्य में कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि आश्रय की भाव-व्यंजना को पाठक का हृश्य किसी प्रकार भी अपनाने में असमर्थ है, यहाँ भी शील-वैचित्र्य के कारण उत्पन्न घृणा, विरक्ति, क्रोध, अश्रद्धा, आश्चर्य आदि कोई न कोई भाव पाठक के हृदय में उत्पन्न हो 'अपरितुष्ट' दशा में रह जाते हैं। इस अपरितुष्ट भाव की तुष्टि तभी सम्भव है जब कोई ऐसा पात्र प्रस्तुत किया जाए जो उपर्युक्त भाव व्यंजना का विरोध करे। दूसरे पात्र के साथ पाठक की पूर्ण सहानुभूति रहती है। प्रबन्ध काव्य नाटक तथा उपन्यासों में अधिकतर अपरितुष्ट भाव की योजना की जाती है। जब नीच वृत्ति वाले पात्र को, उदात्त वृत्ति वाले पात्र द्वारा समुचित उत्तर प्राप्त होता है उस समय पाठक को विशेष तुष्टि प्राप्त होती है। परुषराम और रावण की बातों का उत्तर लक्ष्मण और अंगद द्वारा दिए जाने पर पाठकों को इसी प्रकार की आत्म-तुष्टि होती है।

रस की आचार्य दो भिन्न कोटि की अनुभूतियाँ स्वीकार करते हैं एक है शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और दूसरी है आश्रय के साथ तादात्म्य वाली अनुभूति। अन्तर दोनों में यह है कि प्रथम के अन्तर्गत पाठक अपनी अलग स्थिति रखता है और दूसरे में कुछ क्षणों के लिए आश्रय की भावनाओं में लीन हो जाता है। यदि आश्रय उदात्त वृत्ति वाला हुआ तो जब तक तादात्म रहेगा तब तक उसके शील की ओर पाठक का ध्यान नहीं जाएगा। भावात्मक सत्ता से दूर होने पर ही आश्रय की सौन्दर्य भावना का बोध होगा, और इस समय आश्रय ही पाठक का मूल रूप में आलम्बन रहेगा।

रस, भारतीय साहित्य में पूर्ण रुपेण व्याप्त है। श्रव्य तथा दृश्य दोनों काव्यों के अन्तर्गत इसको प्रधान रूप से अपनाया गया है। रस को प्रधा-

व्यक्ति-वैचित्र्यवाद

नता देने के कारण भारतीय-साहित्य में साधारणीकरण पर विशेष ध्यान रखा गया है। काव्य का श्रोता जिस प्रकार काव्य के रस में लीन होता है उसी प्रकार नाटक का दर्शक भी साधारणीकरण द्वारा, नाटक को पात्रों के भावों में लीन हो कुछ समय को अपना आस्तित्व खो देता है। साधारणीकरण की इस बात को ध्यान में रख आचार्य योरोप के दृश्य काव्यों पर विचार करते हैं। आपके मतानुसार योरोप के शिक्षा-शास्त्री साधारणीकरण की बात को न स्वीकार कर पात्रों के शील वैचित्र्य या अन्तः प्रकृति-वैचित्र्य पर अपना ध्यान रखते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप वे दर्शक को आश्चर्य या कुतूहल की अनुभूति होना स्वीकार करते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि उनके यहाँ रस की ओर लक्ष्य न रहने के कारण कुतूहल मात्र की अनुभूति पर ही ध्यान केन्द्रित कर लिया गया है।

आचार्य के कथनानुसार दृश्य काव्य का लेखक जब केवल पात्रों के शील वैचित्र्य का उपस्थिति पर अपना लक्ष्य रखता है, तो उसके वैचित्र्य के कारण तीन बातें हो सकती हैं। वे हैं—(१) आश्चर्य पूर्ण प्रसादन (२) आश्चर्य पूर्ण अवसादन (१) कुतूहल मात्र। प्रथम का साक्षात्कार शील के चरम उत्कर्ष पात्रों द्वारा होता है। उदाहरणार्थ भरत का राम-पादुका ले विरक्तता धारण करना, राजा हरिश्चन्द्र से रानी शैव्या से कफन मांगना आदि पत्रों के शील का वैचित्र्य देख दर्शक के हृदय में आश्चर्य मिश्रित श्रद्धा और भक्ति का संचार होना माना जाता है। दूसरी बात आश्चर्य पूर्ण अवसादन; प्रसादन जिस प्रकार उच्च शील के पात्रों को देख कर लेता है, उसी प्रकार गत शील का अत्यन्त पतन और घोर तामसी वृत्तियों का साक्षात्कार होता है तब अवसादन होता है। जैसे यदि नाटक में अन्तर्गत हूण सम्राट, मनुष्यों को पहाड़ की चोटी के गिरवा कर उस पर प्रसन्न चित्त अपने भावों की व्यंजना करता दिखाई देता है, तो इस दुःख शीलता के प्रति दर्शक को आश्चर्य निश्रित विरक्ति हो जाना स्वीकार किया गया है। तीसरी बात जो कुतूहल मात्र कही

गई है वह उन पात्रों के चरित्र द्वारा होती है जिनको देख न स्पष्ट रूप से प्रसादन होता है और न स्पष्ट रूप से अवसादन, उनसे केवल एक प्रकार का मनोरंजन मात्र होता है। शुक्ल जी ने डंटन (Theodose-walts Dunton) का मत देते हुए लिखा है कि वह इन पात्रों को कवि की नाटकीय तथा तटस्थ दृष्टि और काव्य कला का चरम उत्कर्ष सूचक मानते हैं।

कुतूहल मात्र करने वाले पात्रों के सम्बन्ध में एक बात समझ लेनी अति आवश्यक है। इन पात्रों को अद्वितीय प्रकृति वाला पात्र माना जाता है, वे ऐसे पात्र होते हैं जो सामान्य वर्ग विशेष में नहीं पाए जाते। इसके विपरीत उपर्युक्त प्रसादन की अवसादन वाले पत्र किसी न किसी रूप में सामान्य वर्ग विशेष में मिल जाया करते हैं। भरत का चरित्र सामान्य शीलवान के चरित्र के अन्तर्गत तथा हूण का चरित्र क्रूर प्रकृति वाले व्यक्ति में देखा जा सकता है। परन्तु जैसा पाश्चात्य शक्तियों का विचार है कि कुतूहल उत्पन्न कराने वाले पात्र कवि की अद्वितीय कल्पनाएँ होते हैं; वे सामान्य वर्ग में नहीं पाए जाते।

डंटन के मतानुसार कुतूहल उत्पन्न कराने वाले पात्रों के सम्बन्ध में जो 'निरपेक्ष दृष्टि' अथवा तटस्थ दृष्टि वाली बात कही गई है, अथवा स्पष्टीकरण आवश्यक है। डंटन का विचार है कि साधारण रूप में कवि या नाटककार, अपने को पत्रों की स्थिति में रख, उसी परिस्थिति के अनुसार शब्दों का प्रयोग करते हैं। अतः वे उक्तियाँ लेखक को स्वयं की उक्तियाँ होती हैं। लेखक स्वयं अनुमान करता है कि यदि वह इस स्थान पर होता तो उसके मुख से क्या शब्द निकलते। अतः इस बात का ध्यान रखने के कारण अपनी प्रकृति अनुसार इन चीजों को वे सृष्टि करते हैं इन चरित्रों की वे सृष्टि करते हैं। परन्तु जब कवि निरपेक्ष दृष्टि रख किसी बात की सृष्टि करता है, तो वह एक नवीन सृष्टि होती है। इसी कारण डंटन इन पात्रों को नूतन कल्पना और काव्य कला का चरम उत्कर्ष स्वीकार करते हैं।

निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम स्वीकार कर जब डंटन साहित्य के अन्तर्

ऐसे पात्र ढूंढ़ने लगे, तो उन्हें केवल दो तीन ही ऐसे पात्र दिखाई दिए, यह पात्र शेक्सपीयर के नाटकों से उपस्थित किये गये आपके मतानुसार हैमलेट का चरित्र, इस निरपेक्षता का उदाहरण है। शुक्ल जी इस बात का खण्डन करते हैं, क्योंकि वह अपनी माता के कारण विक्षिप्त दिखाई देता है। माता के कार्यों को देख वह आत्मग्लानि और क्षोभ से भर जाता है, इस कारण वह असम्बन्धित शब्दों का प्रयोग किया करता है। अतः यह नवीन सृष्टि नहीं सामान्य वर्ग-विशेष में ऐसे पात्र भी मिल सकते हैं।

पाश्चात्य मतानुसार साहित्य के अन्तर्गत वैचित्र्य उपस्थित करने के कारण जो तीन बातें हो सकती हैं, वे स्पष्ट हैं। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत जहाँ रसानभूति को प्रधानता दी गई हैं, यहाँ यह स्वीकार किया जाता है कि पाठक या दर्शक साहित्य के भाव में लीन हो जाता है, और इसी तादात्म्यता को साहित्य का सब से उच्च स्तर स्वीकार किया गया है, उसके विपरीत पाश्चात्य नाट्य साहित्य में केवल वैचित्र्यता उपस्थिति का ध्यान रखा गया है और कुतूहल मात्र करने वाले पात्रों को सब से अधिक प्रमुखता प्रदान की गई। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि डटन ने कुतूहल वाले पात्रों को जो सामान्य वर्ग विशेष के चरित्र के अन्तर्गत न आ सके, नूतन कल्पना स्वीकार किया। परन्तु शुक्ल जी इस कथन से सहमत नहीं, उनके विचारानुसार जिस मनोवृत्ति का प्रदर्शन, किसी भी वर्ग-विशेष का न हो सके मनबहलाव का कृत्रिम रूप ही होगा।

योरुप के इस 'नूतन सृष्टि वाली कल्पना' का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पड़ा। आचार्य के मतानुसार योरोप में यह विचार सूत्र बन गए जिसके परिणाम स्वरूप द्रव्य और दृश्य काव्य के साथ साथ साहित्य-समीक्षा में भी दिखाई देने लगा। परन्तु भारतीय साहित्य यह केवल कवि-कर्मों को स्तुति रूप में ग्रहण किया गया। शुक्ल जी बेडलेम Bed-lam) का उद्धरण दे यह स्पष्ट करते हैं कि योरुप में जो नवीन सृष्टि को लेकर कल्पनाएँ करना आरम्भ हुई उसके परिणाम वश कवि गण दूसरे जगत की बातें कहने लगे, ऐसी बातों की व्यंजना प्रमुख समझी गई जो

न तो कवि की अपनी हो, न किसी और की, उसमें केवल वैचित्र्य मात्र, एक नूतनता हो। शैली के पीछे इस प्रमाद ने और भी जोर पकड़ा।

'नूतन सृष्टि वाली कल्पना' का जन्म किस प्रकार हुआ इस सम्बन्ध में आचार्य का मत है कि यह योरुप के एक युग विशेष की प्रतिक्रिया थी। इस प्रतिक्रिया का आरम्भ योरुप के पुनरुत्थान-काल से हुआ। उस काल विशेष में आचार्य के मतानुसार "काव्य की रचना काल को अखण्ड, अनन्त औत मंदातीत मान कर तथा लोक को एक सामान्य सत्ता समझ ली जाती थी।"* इस तथ्य के कारण कविता देश, काल और समाज को ध्यान में रख नहीं लेती थी। समाज में पाई जाने वाली भिन्न भिन्न रुचि और परिस्थिति का कविगण ध्यान नहीं रखते थे। 'पुनरुत्थान-काल' से अधिकतर लोगों का ध्यान इस बात की ओर गया और शिक्षा शास्त्रियों ने 'व्यक्तिवाद' के नाम से एक नई विचार धारा उपस्थित कर दी। इस 'व्यक्तिवाद' को लेकर योरुप का साहित्य व्यक्तिगत विशेषताएँ, विशेष वैचित्र्य उपस्थित करने में एक दूसरे से होड़ करने लगा।

'व्यक्तिवाद' वाली विचार धारा में है क्या ? उत्तर स्पष्ट ही है कवि द्वारा व्यक्तिगत विशेषाएँ उपस्थिति करना, ऐसे वैचित्र्य उपस्थित करना जो दूसरों के कुतूहल जाग्रत कर सकें। 'नूतन निर्माण-वाली कल्पना' द्वारा ऐसे भावों की व्यंजना की जाने लगी जो किसी की अपने न होकर एकदम नवीन सृष्टि हो। आचार्य के अनुसार इस व्यक्तिवाद ने स्वच्छन्दता आन्दोलन में उत्तर-काल से बहुत ही विकृत रूप ग्रहण कर लिया। आपका मत है कि यदि पूर्ण रूपेण 'व्यक्तिवाद' के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाए जिसके द्वारा यह माना जाता है कि एक हृदय के साथ दूसरे हृदय की कोई समानता नहीं। यदि कोई समानता ही नहीं तो भावों में कोई तादात्म्य नहीं हो सकता, फिर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति, कवि के भाव किस प्रकार ग्रहण कर सकता है। अतः कविता के मूल में जो भावों को ग्रहण करने की बात है अर्थात् एक कविता द्वारा संसार के लाखों मनुष्य

* चिन्तामणि पृ० २३६

उसी भाव को ग्रहण कर सकते हैं। यह बात यहाँ स्वीकार नहीं की जा सकती। यदि भावों में सम्बन्ध नहीं माना जाता। फिर ग्रहण की बात क्या ? फिर तो केवल कवि की वाणी के प्रति कुतूहल ही उत्पन्न हो सकता है। अतः इस 'व्यक्तिवाद' के परिणाम स्वरूप योरुप के कविगण काल्पनिक हृदयों का निर्माण कर, उसके द्वारा की गई व्यंजना को काव्य कहने लगे।

भारतीय काव्य में 'विशेषों' के भीतर 'सामान्य' के उद्घाटन का क्या तात्पर्य है, यह उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्ट किया जा चुका है। काव्य में सदा 'विशेष' का वर्णन रहता है, परन्तु उस विशेष के द्वारा कवि सर्व सामान्य को ही प्रस्तुत करता है। यद्यपि यह सत्य है कि संसार में मनुष्यों की रुचियाँ तथा प्रकृतियाँ भिन्न भिन्न हुआ करती हैं, परन्तु इस भिन्नता के अन्तर्गत भी कुछ ऐसे भाव रहते हैं जो अभिन्न कहे जा सकते हैं। जो सर्व सामान्य के भाव होते हैं, जिसे मानव समान रूप से अनुभव करता है। इसी तथ्य के आधार पर भारतीय साहित्य में 'साधारणीकरण' का सिद्धांत उपस्थित किया गया। यह सामान्य अर्न्तभूमि का सम्बन्ध हृदय रहता है जो ऊपरी मानव की सभ्यता तथा काव्य गत रूढ़ियों से परिवर्तित नहीं की जा सकती। अतः भारत में सच्चा कवि उसे ही स्वीकार किया जाता है जो मानव-मात्र के हृदय तारों को छू सकता है। परन्तु योरुप में व्यक्तिवाद के कारण विभिन्न विशेषों का और भेदों का निर्माण हुआ जिसमें कुतूहल और चमत्कार को ही प्रधानता रही।

भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य की तुलना कर आचार्य इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि जहाँ पाश्चात्य साहित्य की दृष्टि केवल कल्पना और व्यक्तित्व' पर रही, वहाँ भारतीय साहित्य में भावों को प्रधानता दे रस को काव्य की आत्मा स्वीकृत किया गया। कल्पना को शुक्ल जी केवल बोध पक्ष मानते हैं। कल्पना द्वारा पाठक कवि को रूप-व्यापार योजना पर बोध होता है। परन्तु एक कल्पना में आई वस्तु में पाठक को रमाने वाले विशेष भाव ही होते हैं। इसी कारण बोध-पक्ष के स्थान पर भारतीय-साहित्य में भाव-पक्ष को प्रधानता दी गई। जिनके द्वारा रसानुभूति

होती है। जैसा स्पष्ट है कि योरुप ने कल्पना को प्रधानता दी, जिससे भाव-पक्ष का विचार उनके सामने से हट गया, और काव्य की रमणीयता एक उस साधारण आनन्द के रूप में ली जाने लगी जो नई, सुन्दर, भड़कीली वस्तुओं के देखने से होता है। परिणाम यह हुआ कि कविगण केवल तमाशा दिखाने वाले बन गए और कविता नई, सुन्दर, भड़कीली, विलक्षण वस्तुओं का जमघट रह गई।

कल्पना और व्यक्तित्व को प्रधानता देने के कारण आचार्य का मत है कि पश्चिम में अनेक 'वादों' का जन्म हुआ। 'अभिव्यंजना वाद' उसी में से है। उसके प्रवर्त्तक क्रोसे (Benedetto Croce) ने कला और अनुभूति को केवल बोध-स्वरूप माना और उसे पूर्ण कल्पित ज्ञान मान लिया। इस कल्पित ज्ञान को उन्होंने प्रत्यक्ष ज्ञान तथा विचार-प्रसूत ज्ञान से सर्वथा भिन्न स्वीकार किया तथा भावों को भी काव्यगत उक्तियों में स्थान नहीं दिया। परन्तु आचार्य का मत है कि फिर भी उनको अभिव्यञ्जना के रूप में भावों के महत्व को स्वीकार करना पड़ा।

'व्यक्तिवाद' की प्रधानता के कारण योरुप के साहित्य में 'विशेष' को अत्यन्त महत्व दिया गया तथा सामान्य या विचार-सिद्ध ज्ञान का पूर्ण परित्याग किया जाने लगा। विशेष का मोह इतना हुआ कि आलोचनाएँ भी काव्य में होने लगीं। आलोचना में भी विचार सिद्ध ज्ञान दूर ही रखा गया। शुक्ल जी के अनुसार भारतीय पत्रिकाओं में आलोचना सम्बन्धी जो अद्भुत और रमणीय शब्दावली का प्रयोग किया जाने लगा है वह इसी प्रभाव का कारण है।

व्यक्ति वैचित्र्यवाद के सिद्धान्त को स्पष्ट कर शुक्ल जी यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि हिन्दी साहित्य को किसी भी बात में योरुप के साहित्य की अन्धाधुन्ध नकल नहीं करनी चाहिए। उन्हें देखना चाहिए कि यह साहित्यगत 'वाद' किन परिस्थितियों के परिणाम है, तथा उनका क्या रूप है और अन्त में वे किस आधार पर परिवर्तित कर दिए जाते हैं। पहली बात तो यह है कि योरुप में एक धारा बहती है जो दस-बारह वर्ष से अधिक नहीं रहती। इन आन्दोलनों ने बीसवीं शताब्दी में

कविता सम्बन्धी बड़ी अव्यवस्था फैला दी। कविता की स्वभाविकता के स्थान नवीनता प्रदर्शित करने के लिए कवि गण व्याकुल रहने लगे। अतः परिणाम यह हुआ कि योरुप में कविता के नाम पर बहुत कुछ उच्छृंखलता फैल गई, समालोचना भी काव्य ढंग पर की जाने लगी और सच्ची सहानुभूति वाले कवि बहुत कम दिखाई दिए।

परन्तु लगभग पचास वर्षों से योरुप साहित्य-क्षेत्र से 'वाद' दूर कर दिए गए हैं। विभिन्न वाद—'रहस्यवाद', कलावाद, व्यक्तिवाद, आदि सब कल की बात समझी जाती है और इनके आधार पर आज कविता नहीं होती।

आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद सम्बन्धी विचार स्पष्ट किए जा चुके हैं। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि आचार्य आश्रय से तादात्म्य तथा आलम्बन का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। यहाँ वे भट्टनायक से प्रभावित दिखाई देते हैं। साधारणीकरण के सम्बन्ध में उनका अभिनव गुप्तपादाचार्य तथा डा० श्यामसुन्दरदास जी से मतभेद मिलता है। अभिनव गुप्तपादाचार्य द्वारा साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का नहीं होता, साधारणीकरण पाठक का हृदय करता है। चाहे आलम्बन कैसा भी हो, पाठक के हृदय की एक ऐसी स्थिति पाई जाती है जिसमें वह उसको साधारण समझता है। डा० श्यामसुन्दर दास जी के भी कुछ कुछ यही विचार हैं।× इस मत के अनुसार

× "जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर-प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय तथा अभिनन्दनीय सभो प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं।"

डा० श्यामसुन्दर दास

साधारणीकरण करने वाला हृदय सामान्य व्यक्ति का न होकर कुछ विशेष का ही होगा। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता कि रसानुभव केवल थोड़े से व्यक्ति ही करें।

आचार्य में मतानुसार भारतीय साहित्य का रस प्रधान अंग है जिस कारण श्रव्य और हृदय काव्य दोनों में तादात्म्य और साधारणीकरण पर ध्यान रखा जाता है, परन्तु योरुप में हृदय काव्य में केवल शील वैचित्र्य पर ध्यान रखा गया। अतः वैचित्र्य मात्र से साहित्य भर गया, नूतन कल्पनाएँ और नवीन सृष्टि की उमंग में 'व्यक्तिवाद' के नाम पर भाव-पक्ष का परित्याग कर बोध-पक्ष को प्रधानता दी जाने लगी, और व्यक्तिवाद के नाम पर अनेक वाद उपस्थित किए जाने लगे। शुक्ल जी के विचारानुसार इस प्रभाव ने योरुप के काव्य की आत्मा का हनन कर दिया वहाँ केवल कृत्रिमता मात्र रह गई। परन्तु अब धीरे-धीरे योरुप का साहित्य भी इन 'वादों' के आवरण को दूर करता जा रहा है।

———

अध्याय ७

भारतेन्दु और तुलसी

हिन्दी साहित्य में गद्य-साहित्य का विकास आधुनिक युग की देन है। ऐतिहासिक परम्परानुसार गद्य-साहित्य का आरम्भ संवत् १८६० के लगभग मुंशी सदा सुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र के द्वारा माना जाता है। यद्यपि इन चार महानुभावों को गद्य-साहित्य का जन्मदाता स्वीकार किया जा सकता है, जिन्होंने अपनी-अपनी रचनाओं के द्वारा गद्य के नमूने प्रस्तुत किए। परन्तु इतनी प्रतिभा इनमें से किसी की भी नहीं थी, जिससे गद्य-साहित्य उनके आदर्शों तथा पथ का अनुसरण कर सकता। गद्य-साहित्य के जन्म दाताओं के पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद का युग आता है। राजा लक्ष्मणसिंह ने सं० १९१९ में 'शकुन्तला नाटक' लिखा, जो संस्कृत मिश्रित विशुद्ध हिन्दी में लिखा गया। राजा शिवप्रसाद ने अपने 'गुटका' में इस भाषा का आंशिक रूप में प्रयोग किया, तत्पश्चात् वे उर्दू की ओर आकर्षित हो गए। राजा लक्ष्मणसिंह विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। इस मत भेद द्वारा हिन्दी गद्य-साहित्य की भाषा में हिन्दी, उर्दू, की समस्या उठ खड़ी हुई।

भारतेन्दु के पूर्व गद्य-साहित्य

भाषा की दृष्टि से उपर्युक्त महानुभावों के सम्बन्ध में विचार करना अति आवश्यक है, क्योंकि इनके तुलनात्मक विवेचन द्वारा ही भारतेन्दु का महत्त्व स्थापित किया जा सकता है। गद्य रचनाओं का आरम्भ यद्यपि सं० १८६० से हो जाता है, परन्तु भाषा की व्यवहारिकता की दृष्टि से किसी की भी भाषा ठीक नहीं बैठती। आचार्य के मत से यदि कुछ व्यवहारिकता के उद्धरण मिलते हैं, तो वे सदा सुखलाल और सदल मिश्र की

भाषा में, लेकिन प्रान्तीयता की झलक फिर भी दिखाई दे जाती है। मुंशी जी भक्त थे, पंडितों और साधुओं के सम्पर्क के कारण भाषा में पंडिताऊ-पन यदा-कदा झलक जाता है उदाहरणार्थ "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए।" सदल मिश्र की भाषा में पूरबी झलक है—'जो' के स्थान पर 'जौन', 'माँ' के स्थान पर 'मत्तारी' आदि मिलते हैं। शिवप्रसाद की भाषा सीमा का उलंघन कर उर्दू की ओर झुक गई थी और लक्ष्मणसिंह की भाषा में एक तो प्रान्तीयता की पुट थी दूसरे आपने व्यवहारिक अरबी, फारसी के शब्दों का परित्याग कर भाषा की शक्ति को नष्ट कर दिया था। अतः यह समस्त महानुभव भाषा की दृष्टि में किसी न किसी 'पन' से बंधे हुए मिलते हैं जिसके कारण गद्य भाषा अपनी व्यवहारिकता प्राप्त न कर सकी।

उपर्युक्त पंक्तियों में यह स्पष्ट किया गया कि हिन्दी गद्य-साहित्य को जन्म सं० १८६० में मिल गया था। जन्म प्राप्त होने के लगभग सत्तर, बहात्तर वर्षों तक गद्य-साहित्य को कोई ऐसा व्यक्ति प्राप्त नहीं हुआ जिसके पथ का वह अनुसरण कर सकती। यदि आदर्श की परम्परा का विचार किया जाए, तो निःसन्देह श्रेय भारतेन्दु जी को ही प्राप्त होगा। गद्य के जन्म दाताओं ने गद्य के उद्धरण प्रस्तुत किए अवश्य थे, परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है कि वे अपनी अपनी लटक और प्रान्तीयता को नहीं भूल सके थे। इसके साथ ही राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी, उर्दू का द्वन्द आरम्भ कर दिया था। जिसके परिणाम स्वरूप गद्य-भाषा व्यवहारिकता प्राप्त नहीं कर सकी थी। गद्य-साहित्य की इस स्थिति में भारतेन्दु अपनी प्रतिभा लेकर आए, जो गद्य-भाषा विभिन्न 'पनों' और 'लटकों' के कारण खीचा-तानी में पड़ी हुई थी उसे अपने सुव्यवस्थित और परिमार्जित कर स्थिरता प्रदान की। भारतेन्दु ने स्वयं हिन्दी-गद्य के उदय का समय सं० १९३० स्वीकार किया है, जिस समय आपने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' निकाला था। इस समय तक आप कई नाटक लिख चुके थे।

भारतेन्दु और हिन्दी-गद्य

भारतेन्दु ने हिन्दी-गद्य को सुव्यवस्थित और परिष्कृत कर नया जीवन प्रदान किया, जिसके कारण भाषा व्यवहारिकता प्राप्त कर सकी। आपकी भाषा में जहाँ संस्कृत के शब्द मिलते हैं वहाँ पर भाषा में सरलता भी मिलती है, जहाँ उर्दू के शब्द हैं, वहाँ पर भी उर्दूपन नहीं झलकता। तात्पर्य यह कि आपके पूर्व के गद्य-लेखक जो अपनी अपनी गति विधि में सीमा का उलंघन कर रहे थे, उसका आपने ध्यान रख एक सामंजस्य उपस्थित कर दिया। वाक्य-विन्यास, वाक्यों का क्रम और विराम-चिन्हों की ओर भी आपका ध्यान गया और उनको उपयुक्तिता प्रदान की गई।

हिन्दी-गद्य के साथ भारतेन्दु ने काव्य-भाषा को भी सुव्यवस्था प्रदान की। आपने प्रचलित काव्य का मनन कर यह परिणाम निकाला कि

भारतेन्दु और हिन्दी काव्य

काव्य के अन्तर्गत अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जो व्यवहारिक जीवन में कोई अर्थ नहीं रखते। अतः काव्य एक सामान्य व्यक्ति के लिए दूर की वस्तु बन कर रह गई है। दूसरी बात यह थी कि काव्य शब्दों को कविगण अपनी अपनी रुचि अनुसार तोड़ मरोड़ लिया करते थे। आपके द्वारा यह दोनों दोष दूर किए गए तथा अपनी कविता द्वारा आपने चलती व्यवहारिक भाषा का काव्य में समावेश किया। इसी कारण पुरानी परिपाटी पर चली आती कविताओं के स्थान पर आपके कवित्त और सवैये घर घर प्रिय हो सके।

भावों तथा विषय की दृष्टि से भारतेन्दु ने काव्य में नवीन तथा प्राचीन को एक कर दिया। आपने ऐसा संधि-काल उपस्थित किया जिसने सिद्ध कर दिया कि विकास के लिए नवीन और प्राचीन का एकीकरण सदा आवश्यक होता है, और विकास ही तो जीवन है। आपकी कविता में जहाँ शृंगार की रस पूर्णता है, जहाँ भक्त की तन्मयता है वहाँ देश प्रेम से लबालब पंक्तियाँ भी मिलती हैं। सामंजस्य की जो बात कही गई उसमें एक विशेषता यह प्रमुख रूप से है कि कहीं भी 'पैच' नहीं दिखाई देता 'नीलदेवी' की मर्म वेदना द्रोपदी से भिन्न नहीं, अन्तर केवल यही है कि 'नीलदेवी' देश की लज्जा बचाने के लिए भगवान को पुकारती है।

इस सामंजस्य के अतिरिक्त आपने देशाभिमान, जाति प्रेम, समाज सुधार आदि भावनाओं को प्रस्फुटित करने के लिए इतिहास, विज्ञान, नाटक, उपन्यास, पुरावृत आदि अनेक विषय हिन्दी को प्रदान कर, साहित्य के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया।

'कविता' नामक निबन्ध में आचार्य साहित्य में मिलने वाले तीन ढंग के कवियों की व्याख्या कर चुके हैं। वे हैं—नर प्रकृति के वर्णन में लीन रहने वाले, वाह्य प्रकृति वर्णन में लीन रहने वाले और दोनों में समान रुचि रखने वाले। आपके विचारानुसार हरिश्चन्द्र जी प्रथम के अन्तर्गत आते हैं। कविता में संस्कार अवश्य हुआ पर स्वरूप परम्परागत ही रहा। मानवी वृत्तियाँ और मनोविकारों पर ही आपकी दृष्टि गई, प्राकृतिक क्षेत्र से आप दूर ही दिखाई देते हैं। आचार्य वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति को समस्त चराचर पर दृष्टि डालने वाले आदर्श भावुक कवि स्वीकार करते हैं। इन कवियों के उद्धरण दे आप उनकी भावुकता का विश्लेषण करते हैं। हिन्दी साहित्य में पाई जाने वाली संकुचित दृष्टि का कारण आपकी दृष्टि से यह हुआ कि जब उसका विकास की स्थिति आई प्राचीन आदर्श दूरा-गत की वस्तु हो गए थे। सूर तुलसी द्वारा भक्ति काल में इस क्षेत्र में कुछ प्रयास अवश्य हुआ, परन्तु रीति काल ने क्षेत्र अत्यन्त संकुचित कर दिया, प्रकृति और ऋतुएँ केवल उद्दीपन बन कर रह गईं।

भारतेन्दु द्वारा प्रतिपादित काव्य में नवीन विषयों तथा उसके संस्कार की बात कही जा चुकी है। मनुष्य की आन्तरिक और वाह्य वृत्तियों पर वे अवश्य तत्पर मिलते हैं पर प्रकृति से उनको प्रेम नहीं था। आचार्य ने उनके जीवन के प्रसंग उपस्थित कर दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनको अपनी कविता के भाव अपने आस पास के व्यक्तियों द्वारा प्राप्त होते थे, प्रकृति से नहीं। आप उर्दू कविता के प्रेमी थे, जिसके प्रमुख स्वरूप आप में वाह्य-प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण मिलता है। सर्वत्र विशुद्ध प्राकृतिक चित्रण का अभाव है। 'सत्य हरिश्चन्द' के गंगा और 'चन्द्रावली नाटिका' का यमुना वर्णन परम्परागत मुक्त ही हैं। प्राकृतिक स्थल और उनसे सम्बन्धित भावनाओं पर कवि की दृष्टि नहीं पहुँचती है।

भारतेन्दु द्वारा काव्य के क्षेत्र में नए युग की भावनाएँ लाई गईं, काव्य का संस्कार हुआ यह बातें उपर्युक्त पंक्तियों में यद्यपि कही जा चुकी हैं, परन्तु यदि क्रमवद्ध रूप में परिस्थिति को ध्यान में रख विचार किया जाए, तो आपका विशेष महत्व प्रतीत होता है।

नए युग प्रवर्तक

भारत में अंग्रेजों के राज्य स्थापित हो जाने पर भारतीय उनके साहित्य के सम्पर्क में आए, देश में नई भावनाओं और विचारों का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु साहित्य अभी तक अपनी पुरानी लीक पीटता आ रहा था। अतः उनमें सम्बन्ध न रहना स्वाभाविक था। प्रत्येक सभ्य जाति का समाज अपने साहित्य को अपने साथ लेकर चलता है। लेकिन भारत के उस विशेष काल में कुछ परिस्थितियों वश यह खाई दिन दिन चौड़ी होती जा रही थी। कारण यह था कि राज्य-भाषा उर्दू होने के कारण पढ़े लिखे व्यक्ति उर्दू की ओर अधिक आकर्षित हो गए थे और कुछ व्यक्ति हिन्दी साहित्य को इतना परिणति देख रहे थे कि उसके इन नवीन भावों का सामंजस्य करना उन्हें कठिन प्रतीत होता था।

इस परिस्थिति में एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन विचारों का मेल प्राचीन देश के साहित्य के साथ कर उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करे। यह प्रेरणा प्रदान करना भारतेन्दु जी की हिन्दी साहित्य को सबसे बड़ी देन है। आपने अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य को फिर से समाज से मिला दिया। जिसके द्वारा साहित्य अपंगता से दूर हो सकी।

आचार्य, 'श्रद्धा-भक्ति' नामक निबन्ध में भक्ति की परिभाषा देते हुए यह स्पष्ट कर चुके हैं कि श्रद्धा जब प्रेम के साथ मिल जाती है तभी भक्ति-भावना का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ श्रद्धा के अन्तर्गत अपने श्रद्धेय के महत्व को स्वीकार करने के साथ साथ अपनी लघुता की भावना का होना भी आवश्यक रहता है। तुलसीदास जी के हृदय में यह दोनों भावनाएँ

तुलसी का भक्ति-मार्ग

पूर्ण रूपेण थीं इसी कारण आचार्य के मतानुसार भक्ति-रस की पूर्णता जैसी तुलसी में मिलती है वैसी अन्य कवियों में नहीं दिखाई देती।

गोस्वामी जी, राम के उपासक थे। राम के चरित्र में उन्होंने मानव-जीवन के तीन प्रमुख भाव—शील, शक्ति और सौन्दर्य का पूर्ण सामंजस्य दिखाया है। इसी कारण राम के चरित्र द्वारा मानव-जीवन के विभिन्न भावनाओं का यहाँ प्रसार मिलता है। जीवन की भावनाओं से सम्बन्धित मानव-जीवन का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ प्रत्येक अपना मार्ग राम के चरित्र में प्राप्त कर लेता है। साधु-सन्यासी वृत्ति वाले संसार के व्यवहारों से दूर रहने वाले व्यक्ति अपने निज के कल्याण के लिए। राम के चरित्र द्वारा काम, क्रोध का दमन प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार जीवन-व्यवहार में लगा हुआ व्यक्ति भी राम के कार्यों में अपने कार्यों का आदर्श देख, आगे बढ़ने को प्रेरित होता है। यह रूप लोक-कल्याण के लिए अत्यन्त महत्वशाली है।

शुक्ल जी इस भक्ति-मार्ग को संकीर्णता और साम्प्रदायिकता से दूर मानते हैं। संकीर्ण भावों से प्रेरित हो व्यक्ति शरीरिक कष्ट उपवास, व्रत तथा संसार से दूर एकान्त निर्जनता को ही सब कुछ स्वीकार कर लेता है। परन्तु यह मार्ग जहाँ इन व्यक्तियों के उपदेशों को अपनाता है, वहाँ लोक व्यवहार में लगे हुए उस व्यक्ति जो अनेक कठिनाइयों को पार कर मानव-जाति को नई प्रेरणाएँ तथा आदर्श देता है, उसको भी अपनाता है। संकीर्ण विचारों के कारण ज्ञान, भक्ति और कर्म अलग अलग कर दिए गए। तुलसी ने उनका फिर से एकीकरण किया और राम के रूप में उसका प्रस्फुटन हुआ। शील, शक्ति और सौन्दर्य में समन्वय के कारण। मानव हृदय इस ओर आंशिक रूप में आकर्षित न हो पूर्ण रूप में आकर्षित होता है। समयानुसार हृदय कभी राम के शील की ओर झुकता है। कभी शक्ति देख आश्चर्य चकित हो गौरव का अनुभव करता है और कभी उनके सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठता है। राम का चरित्र न केवल साधुता और ज्ञान का उपदेश देता है, न केवल वीरता से प्रभावित

करना चाहता है और न केवल सौन्दर्य में लीन रखना चाहता है। इनका एकीकरण स्वभावतः ही सम्पूर्ण हृदय को आकर्षित करता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति के सामंजस्य की जो बात कही गई उसके उदाहरण स्पष्ट ही हैं। सूर और तुलसी उपदेश देने वाले नहीं थे। ज्ञान मार्गियों के अनुसार इनमें कहीं भी कोरे उपदेश के सूत्र नहीं मिलते। उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर संसार के जीवन के अन्तर्गत सुन्दर मूर्ति प्रतिष्ठित की है। इन भक्तों का मुख्य कार्य था कि जिस मंगल भावना का प्रकाश संसार के कार्यों में लीन रहते हुए इन अवतारों द्वारा उत्पन्न की गई, उसका अवलोकन कर मुग्ध होना और दूसरों को कराना। इनका क्षेत्र मानव हृदय है, हृदय पर प्रभाव डालना ही उनका लक्ष्य था। यहीं भक्ति और ज्ञान में अन्तर उपस्थित होता है। ज्ञान में उपदेश बुद्धि को प्रेरित करते हैं और भक्ति हृदय का विधान है। उपदेश, ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं, एक बात समझी जा सकती है, पर हृदय में उतारी नहीं जा सकती, क्योंकि भावनाओं का विकास उसके द्वारा नहीं होता। इस भक्ति-मार्ग में उसी बात की प्रतिष्ठा हुई जहाँ मानव का हृदय भगवान के लोक-रंजनकारी रूप पर नाच उठता है।

तुलसी के राम का रूप अत्यन्त आकर्षक है। सौन्दर्य में वैसे ही आकर्षण निहित रहता है। उस पर शील और शक्ति का समावेश अनोखी छटा उपस्थित कर देता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि तुलसी की दृष्टि सदा लोक-कल्याण की ओर रही, उनका प्रमुख धर्म लोक-धर्म रहा है। अतः तुलसी का क्षेत्र कबीर और दादू आदि ज्ञान पंथियों से पूर्ण रूपेण भिन्न है।

भक्त उस अलौकिक, भव्य रूप के सन्मुख सांसारिक परिस्थितियों में पड़े अपनी स्थिति की जब कल्पना करता है तो अनेक भावनाएँ हृदय में स्फुटित होती हैं कभी आत्मग्लानि, कभी आशा, कभी उत्साह आदि अनेक भाव उठते हैं। भक्त जितना सामीप्य अनुभव करता जाएगा। उतनी ही भावनाएँ विकसित होती जाएँगी और एक दिन भक्त अपने लघुत्व के भावों को उस महत्व में लीन होता अनुभव करेगा। तुलसी की

विनय-पत्रिका इन्हीं भावों की व्यंजना है। एकाकारिता की जो बात कही गई भक्त को जहाँ ईश्वर के महत्व का वर्णन करने में आनन्द की प्राप्ति होती है। उसी प्रकार उसे अपनी हीनता, अपने पापों और अपनी त्रुटियों का वर्णन करने में एक प्रकार के सन्तोष का अनुभव होता है। इसी कारण कुछ कुछ शब्द ऐसे मिलते हैं जिनको भक्त के चरित्र का आधार न स्वीकार कर सामान्य मानव प्रवृत्ति की व्यंजना कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्योंकि सर्व साधारणतः यही देखा जाता है कि व्यक्ति अपनी बातों को छुपा कर रखना चाहता है, लेकिन यहाँ विपरीत बात देखी जाती है। आत्म सन्तोष के कारण ही सामान्य नियम के विपरीत भक्त अपनी दीनता बढ़ा-चढ़ा कर व्यक्त करता है।

भक्त क्रमशः अपने प्रभु के समीप आता जाता है। फिर दुराव, झिझक कैसी ? भक्त जितना समीप आता है उतना ही वह विभिन्न रूपों से आकर्षित होता है। उसके प्रभु का रूप अत्यन्त भव्य है। अतः कभी वह उसके रूप पर मुग्ध होता है। कभी शक्ति आश्चर्य और उत्साह भरती है और कभी शील के कारण अपने विगत कार्यों पर दुख तथा प्रभु की दया पर विश्वास जाग्रत होता है।

भक्त, प्रतिदान के लिए लालायित नहीं रहता। भक्त के लिए तो भक्ति का जो आनन्द प्राप्त हो रहा है वही उसके लिए सबसे बड़ी देन है। जब भक्ति को क्रिया में ही आनन्द की प्राप्ति है फिर लेन-देन का भाव क्या ? भक्ति कर उसे स्वर्ग मिलेगा, विशेष सुख मिलेगा यह भाव वहाँ नहीं रहते। आचार्य गोस्वामी जी के जीवन वृतान्त का उद्धरण देकर इस बात को स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार एक व्यक्ति ने गोस्वामी-जी से पूछा 'आप राम की भक्ति क्यों करते हैं वे तो बारह कला के अवतार हैं, कृष्ण की भक्ति क्यों नहीं करते जो सोलह कला के अवतार हैं।" गोस्वामी जी मुस्करा कर बोले "यह तो आज ही मालूम हुआ राम अवतार हैं।" राम अवतार है, ईश्वर हैं यही तो उनकी भक्ति का कारण नहीं। राम उनको अच्छे लगते हैं, यही उनके प्रेम का कारण है। चातक, मेघ से प्रेम करता है। उसका क्या कोई कारण है ? उसी

प्रकार तुलसी, राम पर मुग्ध है। राम अच्छे लगने लगे, प्रेम हुआ। फिर प्रतिष्ठा के कारण भक्ति हो गई। यह तो हृदय की गति है जो स्वाभावतः उस शील की ओर झुक गया।

भक्त के प्रेम अपने पूर्ण रूप पर पहुँच जाता है, जब हृदय अपने व्यक्तित्व की चिन्ता न कर रात दिन अपने प्रभु की चिन्ता करता रहता है। वह यही चाहता है कि उसके प्रभु की अनन्त शक्ति, शील और सौन्दर्य की जो भावना संसार में फैली हुई है वह उसी प्रकार रहे। अपने कर्मों को देख यदि कभी उसे भय होने लगता है तो इसीलिए कि कहीं ऐसा न हो कि उसके प्रभु की शक्ति पर किसी प्रकार की चोट पहुँचे। तुलसी सदा अपनी इस भावना को व्यक्त करते रहते हैं।

ज्ञान-मार्ग से सम्बन्धित जो बात ऊपर व्यक्त की गई है, उससे स्पष्ट है कि ज्ञान के शब्द किसी तथ्य को केवल बुद्धि तक ला देते हैं। ज्ञानी कहता है समस्त चराचर सत्ता को एक समझो, भेद-भाव व्यर्थ है। यह वाक्य समझा जा सकता है। लेकिन अनुभव नहीं किया जा सकता है। अनुभूति के लिए भक्ति की आवश्यकता होती है। भक्त, अपने प्रभु के महत्व को देखते देखते ऐसी अवस्था की प्राप्ति करता है जहाँ अपने साथ समस्त जगत को उस महान शक्ति में लीन होता अनुभव करता है। यह अनुभूति भक्ति का सार है। इसी के द्वारा भेद-भाव के संकुचित क्षेत्र से दूर, उस पथ पर पहुँच जाता है जहाँ परोपकार कर संसार के कल्याण का सहायक बनता है और अन्त में समस्त भेद-भावों से दूर जगत की एकाकारिता का अनुभव करता है।

भगवान के रूप को स्पष्ट तथा महान भावना को व्यक्ति द्वारा संसार में अनुभव करना धर्म है। मानव उस महान शक्ति का आभास पाता है

मानस की धर्म-भूमि

और क्रमशः समस्त चराचर में उसी असीम का सत्ता व्याप्त रहना, उसी की प्रेरणा से संसार का चलित होना उसे प्रतीत होने लगता है। इस

आभास के क्षेत्र की भी सीमाएँ रहती हैं व्यक्ति कभी अपने परिवार के अन्तर्गत, कभी समाज में और कभी संसार के समस्त प्राणियों की सत्ता का केन्द्र विन्दु उसी परमात्मा को समझता है। मानव प्राणियों की सत्ता का केन्द विन्दु उसी परमात्मा को समझता है। मानव की यह भावना का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, उसे ब्रह्म के उतने ही व्यापक रूप की अनुभूति होगी। उदाहरार्थ जिस व्यक्ति की भावना केवल अपने परिहार तक सीमित होगी उसे केवल अपने कुल देव का आभास हो सकेगा और जिसकी दृष्टि जाति पर जाएगी उसे जाति के नेता अथवा देव का आभास होगा। भक्त का व्यापक हृदय केवल यहीं तक सीमित नहीं रहता, वह समस्त संसार में उस परमात्मा का अनुभव करना चाहता है। 'सत चित्त आनन्द' के क्रमानुसार भक्त का चित्त, अखिल सत् का अनुभव कर के ही आनन्द को प्राप्त होता है। उसे संसार मात्र के प्राणियों में उसी ब्रह्म का अनुभव होता है। फिर कोई भेद भाव नहीं रह जाता। जब सब में उसी भगवान के दर्शन होते हैं तब वह अपने भगवान के अधिक पास आने लगता है। भेद भाव की दूरी स्वयं नष्ट हो जाती है। इसी कारण भक्त तुलसी राम के हृदय के एकान्त में अनुभव न कर, समस्त व्यापक जगत में, उनका वे साक्षात्कार करते हैं। भगवान साक्षात्कार के क्षेत्र को ध्यान में रख आचार्य ने धर्म की पाँच श्रेणियाँ कर दी हैं——गृह धर्म, कुल धर्म, समाज धर्म, लोकधर्म और विश्व धर्म। यह बात ऊपर ही कही जा चुकी है कि जिस व्यक्ति की दृष्टि क्षेत्र के अनुसार जितनी व्यापक होगी अर्थात् जो जितने अधिक प्राणियों के भले का विचार करेगा, उसका धर्म उतनी ही उच्च स्तर पर समझा जाएगा। धर्म की इन श्रेणियों में विश्व धर्म, पूर्ण धर्म कहा जाएगा, क्योंकि यहाँ दृष्टि समस्त विश्व के कल्याण पर रहती है। जिसके द्वारा पुरुषोत्तम की अनुभूति होती है। इसकी अनुभूति सच्चा भक्त ही करता है और इसी अनुभूति को वह दूसरों के हृदय में उतारने के लिए व्याकुल रहता है। यह श्रेणियाँ धर्म के स्वरूप हैं, पालन से उनका सम्बन्ध नहीं क्योंकि स्वरूप और पालन में कभी कभी भिन्नता मिल जाया करती है। उदा-

हरणार्थ आचार्य लिखते हैं कि कभी कभी व्यक्ति लोक धर्म का ध्यान न रख गरीबों का पेट काटा करते हैं, वहाँ अन्य प्राणियों में दया भाव दिखाते हुए उनको आटा या नाज बाँटा करते हैं।

तुलसी की भक्ति भगवान के सत्य रूप का व्यक्त करती चलती है। धर्म की श्रेणी के अनुसार तुलसी के राम विश्व धर्म के सहायक पुरुषोत्तम हैं। राम के कार्यों में विश्व धर्म का आभास विश्व की स्थिति और रक्षा के रूप में मिलता है। तुलसी ने अपने राम के चरित्र में उन रूपों को देखा जिस में विश्व का कल्याण है, जिस पर ही विश्व स्थित है। धर्म द्वारा ही मानव का विकास और मोक्ष माना गया है और जैसा स्पष्ट है कि धर्म का विकास व्यक्ति संसार के व्यवहारिक जीवन में प्राप्त करता है। आँख बन्द कर भक्त को अपनी आत्मा में उसका आभास नहीं होता, इसके लिए तो उसे आस पास के प्राणियों से रागत्मक सम्बन्ध स्थापित करना होता है। जीवन की पूर्णता, ज्ञान, भक्ति, कर्म के एकीकरण द्वारा ही प्राप्त होती है। 'तुलसी के भक्ति-मार्ग' में इसकी व्याख्या की जा चुकी है कि तीनों के एकीकरण द्वारा ही मानव साधक की पूर्ण सत्ता का आभास प्राप्त कर सकता है। एक मार्ग को लेकर चलने वाले आंगिक रूप में ही उस सत्ता का आभास प्राप्त कर सकते हैं। तुलसी में यद्यपि इन तीनों का सामंजस्य पूर्ण रूप से हुआ है। परन्तु उनकी भक्ति में विश्व धर्म की प्रधानता दिखाई देती है।

'रामचरित मानस' में तुलसी ने धर्म के अनेक रूप दिखाए हैं, परन्तु यदि व्याख्या की जाय तो विश्व-धर्म का प्रधान्य ही मिलेगा। भरत, तुलसी के एक आदर्श लोक-कल्याणकारी चरित्र हैं। अपनी माता के कार्यों में वे राम का तिरस्कार देखते हैं और राम क्या हैं। राम हैं पूर्ण पुरुष जिनमें विश्व-धर्म की शुद्ध तथा व्यापक भावना झलक रही है। अतः भरत जब विश्व-धर्म का अपमान देखते हैं, उस समय वे लोक-धर्म, माता की मर्यादा का विचार नहीं करते। भरत को माता द्वारा किए गए धर्म-विरोध का परिणाम सामने दिखाई देता है। राम के साथ सीता वर

छोड़ देती है, लक्ष्मण भी उनके साथ चल देते है, घर में, नगर में दुख के बादल छा जाते हैं। अतः भरत संकुचित धर्म का उलंघन कर व्यापक धर्म अपनाते हैं, यह पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि धर्म का कितना व्यापक क्षेत्र सन्मुख रखा जायगा, धर्म उतना ही उच्च समझा जायगा। काव्य दृष्टि से भी भरत का क्रोध स्वभाविक है। भरत राम के प्रिय और भक्त हैं। महाकाव्य में धर्म पर क्रूर आघात होता है, स्वाभाविक है कि कथावस्तु का पाठक उस आघात करने वाले को दंडित देखना चाहे। पाठक उसी समय सन्तुष्टि का अनुभव करता है जब कैकेयी भरत के शब्दों को सुन आत्म ग्लानि से भर जाती है। रामचरित मानस के इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जीवन में व्यापक लक्ष्य वाले धर्म को ध्यान में रख परिमित क्षेत्र के धर्म का उलंघन करना अनुचित नहीं है।

'विभीषण' का चरित्र इस बात का दूसरा उदाहरण है। कुल धर्म की संकुचित दृष्टि उसे रावण के घर का भेदिया कह सकती है, परन्तु उसकी दृष्टि तो विश्वधर्म पर केन्द्रित थी। विभीषण राम का भक्त है, विश्व धर्म उसका आदर्श है और इधर रावण लोक पीड़क है। सीता का हरण कर रावण अपने दुष्कार्यों की सीमा का उलंघन कर जाता है। विभीषण रावण को समझाता है, उसे उससे दुष्कार्यों से परिचित करा उनसे दूर रहने के लिए बार बार कहता है। लेकिन रावण तो अपनी बात पर अटल है। अब विभीषण के सन्मुख दो धर्मों का प्रश्न आता है—एक धर्म है गृहधर्म जहाँ भाई तथा अन्य परिजनों के सुख तथा जीवन का प्रश्न है, दूसरा है लोक धर्म जिसमें संसार मात्र के मानवों और प्राणियों के सुख और कल्याण की बात का वह ध्यान करता है स्वाभाविक है कि भक्त अपने गृह धर्म के संकुचित क्षेत्र में बंध कर नहीं सकता, उसके सामने तो समस्त संसार के प्राणियों का कल्याण उनका सुख, उनका आनन्द छा जाता है। इसी स्थिति पर आकर विभीषण गृह धर्म का विचार छोड़ लोक धर्म के आश्रय में चला जाता है। अतः उसे घर का भेदिया कहना भूल होगा।

भक्त जब धर्म के रूप को नष्ट होता देखता है तो उसे अनुभव होने लगता है मानों उसका भगवान उसकी आँखों से सामने से दूर हो रहा है, परन्तु जैसे जैसे बादल दूर होने लगते हैं, धर्म विरोधी बातें नष्ट होने लगती हैं, उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता उसे फिर से अपना भगवान सामने आता धर्म का स्वरूप स्थापित करता प्रतीत होता है। विभीषण को भी अवश्य इस आनन्द का अनुभव हुआ होगा, जब उसकी हनूमान से भेंट हुई होगी और हनूमान ने धर्म रूप भगवान की बात उससे कही होगी। इस आनन्द ने उसे लोक धर्म की ओर आगे बढ़ने को और भी प्रेरित किया होगा।

शुक्ल जी के सिद्धान्तों व विचारों में लोक-भावना तथा लोक-सिद्धांत का प्रमुख स्थान है। आपने काव्य तथा साहित्य सम्बन्धी विचार लोक-सिद्धान्त के आधार पर ही स्थिर किए हैं, और धर्म का रूप जैसा स्पष्ट है इसी पर स्थित हुआ है। वे उसी धर्म, उसी काव्य तथा उसी साहित्य को श्रेष्ठ समझते हैं जो अधिक से अधिक व्यक्तियों के कल्याण और आनन्द का ध्यान रखे। यहाँ भावना विश्व तक व्याप्त है। आपके अनुसार जिसकी दृष्टि विश्व-धर्म पालय पर रहती है वही पूर्ण पुरुष अथवा पुरुषोत्तम है। समाज की रक्षा तथा स्थिति के लिए इसी का आप प्रतिपादन करते हैं, जहाँ विश्व कल्याण का ध्यान रख दीन पर दया दिखाई जाती है और अत्याचारी का क्रोध-पूर्वक नाश किया जाता है। 'मानस' में आपने इन्हीं आदर्शों का पूर्ण-रूपेण प्रति पालन किया है।

भारतेन्दु और तुलसी पर लिखे गए इन तीन निबन्धों में आचार्य की दृष्टि प्रथम में भारतेन्दु के पूर्व गद्य साहित्य की रूप रेखा तथा भाषा और विषय की दृष्टि से भारतेन्दु के महत्व की ओर रही है। आप भारतेन्दु को गद्य-साहित्य की भाषा का रूप स्थिर कर, 'परम्परा प्रतिष्ठित' करने का गौरव देते हैं। नवीन और प्राचीन विचारों का समन्वय करना भी भारतेन्दु की विशेष देन मानते हैं। तुलसी के दोनों निबन्धों में तुलसी की

भक्ति के आदर्श व्यक्त हुए हैं, दूसरा निबन्ध प्रथम का एक अंग कहा जा सकता है क्योंकि तुलसी की भक्ति में वे धर्म को प्रधान रूप देते हैं। तुलसी की भक्ति में वे भक्ति रस का 'पूर्ण परिपाक' देखते हैं, जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म का एकीकरण होता है। शील, शक्ति और सौन्दर्य का सामञ्जस्य होने के कारण, मानव के हृदय का पूर्ण आकर्षण यहाँ निहित है। लोक धर्म जो आचार्य का आदर्श है उसी की व्याख्या 'मानस' को ध्यान में रख दूसरे निबन्ध में हुई है।

———

अध्याय ८

अभिव्यंजनावाद सम्बन्धी विचार

(साहित्य के अन्तर्गत आता अर्थ, भाव तथा चमत्कार का विश्लेषण और इनकी समीक्षा आती है।) अर्थ का तात्पर्य वस्तु या विषय से है। अर्थ चार प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमति आप्तोपलब्ध और कल्पित। अनुमति का क्षेत्र दर्शन-विज्ञान है, आप्तोपलब्ध का इतिहास और कल्पित अर्थ का काव्य परन्तु भाव या चमत्कार द्वारा समन्वित तो यह तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि साहित्य में वे कृतियाँ प्रथम रूप में आती हैं जिनमें भाव-व्यञ्जकता तथा चमत्कार का अंश रहता है और फिर रमणीयता प्रदर्शित करने वाली व्याख्याएँ आती हैं। अतः साहित्य की रचनाओं के तीन रूप हमारे यहाँ मिलते हैं—श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य और कलात्मक गद्यकाव्य। तीसरे में उपन्यास तथा छोटी कहानियाँ आ गई हैं। चौथा रूप है काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध का और पाँचवाँ है विचारात्मक निबन्ध का। इस आधार पर काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य और निबन्ध जिसमें साहित्यालोचन भी सम्मिलित किए गए हैं।

इन पाँच प्रकार की रचनाओं में भाव या चमत्कार में ही नहीं शासन-विधि में भी भेद रहता है। मूल रूप से भाषा का कार्य तो किसी न किसी अर्थ का बोध कराना होता है, परन्तु जहाँ यह कार्य न कर असम्बन्धित बोध सामने रखती है वहाँ उसका लक्ष्य चमत्कार प्रदर्शन पर ही रहता है। यह सम्भावना काव्य में अधिकतर पाई जाती है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि काव्य सदा इसी रूप में प्रस्तुत किया जाता है। नाटक में चमत्कार का स्थान संकुचित रहता है। क्योंकि

नाटक का विधान कथोपकथन पर आश्रित रहता है, जिसका स्पष्टीकरण अति आवश्यक होता है। उपन्यास तथा आख्यायिकाओं में कथा प्रवाह पर अधिक ध्यान रहने के कारण उक्ति-वैचित्र्य को बहुत कम क्षेत्र मिलता है। काव्यात्मक गद्यकाव्य कभी तो अर्थ पर ध्यान रख चलते हैं और कभी चमत्कार को ध्यान में रखते हैं। इन चारों रचनाओं में कल्पना-प्रसूत वस्तु की प्रधानता रहती है और शेष तीन प्रकार के अर्थ उसके सहायक रहते हैं। परन्तु निबन्ध में विचारों की प्रधानता रहती है।

मानव संसार में समस्त वस्तुओं पर अपनी भाषा द्वारा प्रकाश डालता है, उसी प्रकार काव्य भी भाषा द्वारा व्यक्त होता है। भावोन्मेष और चमत्कार पूर्ण अनुरंजना में भाव सम्मिलित रहते हैं, अर्थ

काव्य

में उसके प्रसंग का ध्यान रखा जाता है। जहाँ यह प्रसगानुकूलता नहीं मिलती वहाँ लक्षण और व्यंजना द्वारा अर्थ प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। यदि यह भी आपेक्षित न हुआ तो वह काव्य नहीं कहा जा सकता।

व्यंजना दो प्रकार की होती है—वस्तु व्यंजना और भाव व्यंजना यह भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ हैं क्योंकि एक में तथ्य की व्यंजना होती है दूसरे में भाव की व्यंजना। साहित्य शास्त्र में यह अन्तर केवल इस बात से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है कि तथ्य व्यंजना में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का क्रम श्रोता और पाठक को लक्षित होता है पर दूसरे में यह नहीं होता। परन्तु यह बात पूर्ण नहीं क्योंकि भावों का अनुभव एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक जाना नहीं है। अतः अनुभूति व्यंग्य नहीं मानी जा सकती। अर्थ केवल इस रूप में कि 'वह प्रेम कर रहा है' होगा जिससे रसानुभूति नहीं हो सकती। इसलिए भाव-व्यंजना और रस-व्यंजना को वस्तु-व्यंजना से पूर्ण भिन्न समझना चाहिए। भारतीय दृष्टि के अनुसार यह व्यक्त किया जा चुका है कि वाच्यार्थ के अयोग्य होने पर योग्य अर्थ के लिए लक्षणा और व्यंजना का सहारा लिया जाता है और काव्य की रमणीयता इन तीनों में से वाच्यार्थ में मानी गई है। शुक्ल जी लक्षणा-युक्त पंक्तियों का उद्धरण दे इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। वाच्यार्थ के

मूल में कुछ न कुछ बुद्धिग्राह्य अर्थ होना ही चाहिए, यह परख आलोचक करते हैं काव्य में योग्य अर्थ कितना है ? इसी आधार पर भारतीय काव्य-गत अर्थ योग्यता और बुद्धि का अनुमान किया जाता है कि चाहे काव्य की ऊपरी तहें अनेक दूर करनी पड़ें परन्तु उसका योग्य अर्थ अवश्य स्पष्ट होना चाहिए।

योरुप में काव्य तथा कला से सम्बन्धित अनेक वाद प्रचलित हुए, जिनकी रूप रेखा इटली तथा फ्रांस ने निर्मित की। इटली में अन्य कलाओं की भाँति काव्य-कला को भी समझा गया, जिसके परिणाम-स्वरूप काव्य में भी नक्काशी और बेलबूटे देखे जाने लगे और जैसे इन बेलबूटों का जीवन भी वास्तविक स्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार काव्य भी अपने गंभीर उद्देश्य से दूर चला गया। जिस प्रकार यह बेलबूटे स्वतंत्र सृष्टि होते हैं और जीवन के किसी वास्तविक तथ्य के रूप में उसका अर्थ नहीं मिल सकता उसी प्रकार काव्य का अर्थ भी अपने आप में समझा जाने लगा, जीवन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इस विचार को सब से अधिक रूप इटले के क्रोचे (Croce) ने अपने अभिव्यंजनावाद में किया। जहाँ उन्होंने अभिव्यंजना को ही सब कुछ स्वीकार किया। उससे अलग उसमें कोई भाव नहीं होता। उन्होंने काव्य में वाच्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ स्वीकार नहीं किया।

अभिव्यंजनावाद के अन्तर्गत प्रकृति की वस्तुएँ फूल-पत्ते; नदी-पर्वत, चातक, भ्रमर, समीर, मानव के व्यापार, हँसना, गाना, रोना तथा मानव की अन्तः प्रकृति रति, हास, शोक आदि उपादान मात्र में अपनाए जाकर कवि अनोखी सृष्टि की रचना करने लगे। कवि की दृष्टि प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन और भावों की व्यंजना में न रम कर उसी नक्काशी करने वाले के सदृश्य वस्तु रूपी विभिन्न रंगों को सजाने में लग गया। वाद के प्रतिपादक ने इस कला को आत्मा की क्रिया कहा और इस आधार द्वारा काव्य-कला का सम्बन्ध जगत तथा जीवन से दूर कर दिया। काव्य का जो गाम्भीर्य उद्देश्य है, जिसके द्वारा जीवन के भावों और तथ्यों की व्यंजना होती है और जिसके द्वारा कवि सर्व

सामान्य तक पहुँच पाता है उसका प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता, क्योंकि उसने सीधा आत्मा से काव्य का सम्बन्ध स्थापित किया। क्रोचे को यह आत्मा वाली बात ईसाई सन्तों से प्राप्त हुई थी। जो 'हाल की दशा' में एक अलौकिक शक्ति का आभास प्राप्त करते थे।

क्रोचे ने काव्य में कल्पना को क्रिया और उसके बोध को सब कुछ माना है इसलिए वह काव्यानुभूति को ज्ञान-स्वरूप स्वीकार करता है। उसने ज्ञान के दो रूप किए हैं:—

(१) कला-सम्बन्धी ज्ञान—स्वयंप्रकाश ज्ञान।

(२) तर्क-सम्बन्धी ज्ञान—प्रभा।

प्रथम कल्पना से उत्पन्न व्यक्ति का संकेत ग्रह माना है दूसरा बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान जाति का संकेत ग्रह कहा गया है। स्वयं प्रकाश ज्ञान से तात्पर्य है मन में अपने आप से उठी भावना, जो आत्मा की क्रिया रहती है। जगत के रूप द्रव्य (Matter) है, आत्मा इस द्रव्य का ज्ञान करती है। कल्पना आत्मा की क्रिया है जो साँचा निर्माण कर इन द्रव्यों को उसमें डाल कवि की कृति को व्यक्तता प्रदान करती है। साँचा आत्मा की वस्तु होने के कारण आध्यात्मिक वस्तु रहता है। रहा अभिव्यंजना में जो परिवर्तन मिलता है, वह परिवर्तन शील द्रव्यों के कारण अतः "कला के क्षेत्र में यही साँचा (Form) सब कुछ है, द्रव्य या सामग्री (Matter) ध्यान देने की वस्तु नहीं इस साँचे में ढल कर स्वयं प्रकाश ज्ञान का व्यक्त होना ही* कल्पना है, जो मूल अभिव्यंजना है। यह आन्तरित जगत में होने के पश्चात् शब्द और रंग द्वारा प्रकाशित की जाती है। क्रोचे इस बात से सहमत नहीं कि जो भावना अन्दर उठी है वह पूर्णतः प्रकाशित नहीं हो पाती; इस स्थिति में वह उस भावना को पूर्ण रूप से उठी स्वीकार नहीं करता है। प्रत्येक अभिव्यंजना की अपनी विशेष सत्ता होती है इसलिए अभिव्यंजना के आधार पर साहित्य-शास्त्र में रचनाओं के भेद वह स्वीकृत नहीं करता।

* चिन्तामणि द्वितीय भाग पृ० १८८।

अलंकार को वह शोभा की ऊपरी वस्तु कहता है। ऊपरी वस्तु होने के कारण अभिव्यंजना के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं। अलंकार और रस तर्क-पक्ष में सहायक होते हैं। वह रसवाद की जहाँ रस रूप से अनुभूति ही काव्यानुभूति मानी गई है उसका भी खंडन करते हैं। अनुभूति शरीर के दुख-सुख से सम्बन्ध रखने वाली भीतरी क्रिया है इसलिए उसके दो पक्ष अवश्य ही होंगे। यदि कला में सुखात्मक भाव का मूल्य होता है तो इसका मतलब यह कि दूसरे भाव का कोई मूल्य नहीं। परन्तु काव्य में दोनों भाव पाए जाते हैं। काव्य का मूल्य सुन्दर शब्द से व्यक्त होता है, यहाँ क्रोचे सुन्दर का तात्पर्य अभिव्यंजना के सौन्दर्य से लेते हैं। वस्तु में सौन्दर्य न देख, उक्ति में वे सौन्दर्य देखते हैं। रहा प्रकृति के सौन्दर्य की बात तो वह इन उक्तियों के कारण ही है जो बहुत समय से लोग उक्तियों के लिए प्रकृति से साधन लेते आए हैं। उक्तियों के सौन्दर्य को देख कर उन वस्तुओं को भी सुन्दर समझा जाने लगा।

क्रोचे कला-सम्बन्धी भावना को ज्ञान-स्वरूप लेकर चले हैं और उसके साथ वे एक आनन्द भी मानते हैं। यह आनन्द अन्य आनन्दों से भिन्न माना गया है। काव्य में जो सुखात्मक और दुखात्मक अनुभूतियां होती हैं, उसमें दुखात्मक अनुभूति को आनन्द रूप अनुमूल्याभास के सिद्धान्त द्वारा अपनाया गया जिससे द्वारा अनुभूति का बहुत तीव्र और क्षोभकारी नहीं माना गया। क्रोचे का मत यह है कि इसकी तीव्र अनुभूति इसलिए नहीं होती क्योंकि यहाँ सम्बन्ध उक्ति के स्वरूप से होता है। और वास्तविक जीवन के भावों का सम्बन्ध वस्तुओं से होता है जिस कारण वे अधिक तीव्र हुआ करते हैं।

क्रोचे ने सुन्दर-असुन्दर का प्रयोग अभिव्यंजना के लिए ही ग्रहण किया है। यदि यह स्वीकार न कर वस्तु आधार मानी जाए तो साहित्य में अनेक भेद होंगे। कला में उनकी केवल इतनी उपयोगिता है कि काव्य की उक्ति में इनका प्रतिबिम्ब आ जाया करता है। और कभी-कभी इन वस्तुओं में कला का आभास भी आ जाता है। वर्ण्य वस्तु को ग्रहण करने

सुन्दर और असुन्दर वस्तुएँ स्पष्ट करने में बहुत कठिनाई हुई इस कारण क्रोचे ने केवल उक्ति की सुन्दरता को ही ग्रहण किया।

क्रोचे ने कला की अभिव्यंजना को विशेष रूप में ग्रहण किया है। साधारणतः कवि के शब्दों और चित्रकार के आकार को जो अभिव्यंजना समझ ली जाती है, वह भौतिक अभिव्यंजना होती है। कला में अभिव्यंजना कल्पना है, जो आत्यात्मिक क्रिया मानी गई है शब्द, रंग, चेष्टा आदि उस आध्यात्मिक वस्तु को प्रगट करने वाली भौतिक अभिव्यंजना मात्र हैं। कला की अभिव्यंजना के प्रस्फुटन के लिए उसने चार बातों का क्रम स्वीकार किया :—

(१) अन्तः संस्कार।

(२) अभिव्यंजना-आध्यात्मिक क्रिया।

(३) सौन्दर्य भावना से उत्पन्न आनन्द।

(४) आध्यात्मिक वस्तु का भौतिक रूप में प्रगटीकरण। इसमें अभिव्यंजना प्रमुख है, अन्य बातों के पूरे होने पर वह विधान पूर्ण सम्पन्न हो जाता है।

अभिव्यंजना वाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत साहित्य में अनेक विचार जैसे 'कल्पना आध्यात्मिक जगत का आभास है', 'कला कला के लिए है', 'कल्पना का लोक ही निराला है', 'काव्य-सौन्दर्य की साधना है' आदि उठ खड़े हुए। यह बात पहले व्यक्त की जा चुकी है कि किस प्रकार अन्य कलाओं की भांति काव्य में भी सौन्दर्य शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। परन्तु आचार्य का मत है कि 'सुन्दर' शब्द काव्य के लिए उपयुक्त नहीं। इसी कारण पंडित राज ने 'सुन्दर' के स्थान पर 'रमणीय' शब्द का प्रयोग किया है। रमणीयता में भाव रहता है जो मन में बार-बार आना चाहे। सुन्दर ऊपरी बातों का संकेत करता है और 'रमणीयता' में हृदय की ओर लक्ष्य रहता है। काव्य का जन्म भावों के आधार पर ही हुआ है। संसार की किसी सुन्दर वस्तु को इसी भाव के आलम्बन रूप में लिया जाता है। नक्काशी की सौन्दर्य-भावना, भावानुभूति के रूप में नहीं होती इसीलिए कलावादियों ने भावानुभूति की सौन्दर्य-भावना से अलग रखा,

उस समय से अनेक सौन्दर्य-शास्त्रों का निर्माण होने लगा। मूल रूप से यह सब झगड़ा कला की नक्काशी के समान समझने के कारण हुआ। भारतीय शास्त्र में जो चौसठ कलाएं स्वीकार की गई हैं, उनमें काव्य को नहीं गिना गया इस कारण चमत्कार वादियों तथा वक्रोक्ति वादियों के वाग्वैचित्र्य अपनाने पर भी कला सम्बन्धी प्रसंग योरुप के समान यहाँ नहीं खड़े हुए।

कला सम्बन्धी विचारों के व्याप्त रहने पर भी योरुप में कुछ कवि हुए जिन्होंने इस विचार धारा को न अपना कर स्वतंत्र्य काव्य की मार्मिक अनुभूति पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। तथा उनकी दृष्टि से 'कला-वाद' और 'सौन्दर्यवाद' वाले विचार उपयुक्त नहीं माने गए हैं। इंग्लैंड के रुपर्ट ब्रुक नामक कवि इसी के अन्तर्गत आते हैं, जो केवल मार्मिक अनुभूति को स्वीकार करते हैं।

क्रोचे के विचार यदि भारतीय काव्य-दृष्टि से मिलाए जाएँ तो उसमें अनेक बातें विरोधी प्रतीत होती है। क्रोचे ने काव्य-सम्बन्धिनी भावना में कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर मूल रूप 'ज्ञानात्मक' माना। भारतीय रस सिद्धान्त का निरूपण करते हैं, इस कारण वे मूल में भावात्मकता को अपनाते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो 'भाव' में 'बोध वृत्ति', 'इच्छा', 'प्रवृत्ति', और 'लक्षण' आदि वृत्तियाँ रहती हैं और 'विभाव' ज्ञानात्मक अवयव रहता है। कल्पना जो रूप प्रस्तुत करती है, जिससे भाव का अनुभव हो, इस भाव की अनुभूति के साथ आलम्बन का बोध भी रहता है। अतः भारतीय साहित्य शास्त्रों में भावानुभूति के सहायक रूप में कल्पना का विधान माना गया है। सब प्रकार की कल्पनाओं को काव्य के अन्तर्गत न लेते हुए, भाव का प्रस्फुटन करने वाली कल्पनां को काव्य-विधायिनी कल्पना माना है।

क्रोचे ने कल्पना को जो ज्ञान माना है वह धार्मिक रहस्यवाद के संस्कारों के कारण, जिसके द्वारा ईसाई सन्तों को आध्यात्मिक 'आभास' हुआ करता था। यहाँ ज्ञान में महत्व की बात आती है। 'आभास' की

बातों को आध्यात्मिक जगत की बातें कही गईं और अन्तर्दशा की बातों को आध्यात्मिक ज्ञान की बातें स्वीकार की गईं। आध्यात्मिक जगत की बातें होने के कारण इसका प्रभाव कविता पर बहुत बुरा पड़ा जिसके द्वारा कवि गण कवित्त में इस जगत से कुछ न कुछ भिन्नता लाने के लिए प्रयत्न शील रहने लगे। यदि क्रोचे के दार्शनिक सिद्धान्त पर विचार किया जाए जिसके द्वारा कल्पना को आत्मा की क्रिया माना गया, वह अव्यक्त की ओर बढ़ने के लिए हुआ। जिन रूपों को उसने 'आत्मा के कारखाने' से निकला कहा, वे संसार के ही रूप हैं। इन्द्रिय ज्ञान के संस्कार जो मन में रहते हैं, वे बुद्धि या भाव से जाग्रत हुआ करते हैं, वही मूर्त भावना या कल्पना है। यह वाह्य जगत के प्राप्त रूपों पर निर्मित होती है। अतः आध्यात्मिक साँचा आदि जो शब्द इस सम्बन्ध में पहले प्रयुक्त हुए हैं, वे सब व्यर्थ हैं।

प्राचीन ईसाइयों तथा ब्लेक आदि कवि, जिन्होंने कल्पना में आए हुए रूपों को आध्यात्मक जगत का कहा, वहीं से इन 'साँचों' का जन्म हुआ। इस सम्बंध में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि कल्पना के रूप वाह्य जगत के नहीं आत्मा के हैं तब तो एक अन्धा भी उसकी आँखों वालों के समान निरूपण कर सकता है। परन्तु इसका समाधान यह कह कर लिया जाता है कि आत्मा से सूक्ष्म साँचे निकलते हैं जो बाध्य जगत के द्रव्य को भर कर ही व्यक्त हो सकते हैं। अतः अन्धे द्रव्य न भरने के कारण इन सूक्ष्म साँचों को व्यक्त नहीं कर पाते।

क्रोचे ने प्रकृति की वस्तुओं को द्रव्य कहा इस दृष्टि से कला की अभिव्यंजना में यदि औचित्य-अनौचित्य का विचार किया जाए, तो जहाँ तक काव्य के प्रभाव का प्रश्न है वहाँ नकाशी वाली सौन्दर्य-भावना इसकी (प्रभाव) बहुत संकुचित कर देती है। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत इस प्रभाव को ध्यान में इस 'रसा भास' और 'भावाभास' के भेद का निरूपण किया गया। उपयुक्त दृष्टि के अनुसार काव्य का प्रभाव संकुचित हो, कविता के मूल में जो जीवन के प्रभाव की बात है वह नहीं आ पाती और फिर पाठक का उसमें लीन होना भी सम्भव नहीं।

'कला कला के लिए है' यह विचार धारा बहुत प्राचीन हो चुकी है, क्रोचे की धाराएँ उसे नया जीवन देने में असमर्थ हैं। इस विचारधारा के आधार पर साहित्य में एक नया प्रश्न उठा कि क्या काव्य का सदाचार के साथ कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं। आस्कर वाइल्ड ने सन् १८९१ ई० में तथा अन्य रस मत के प्रतिपादकों ने यह प्रतिपादित किया कि 'कला' और 'आचार' भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं, परन्तु समालोचक रिचर्डस ने इसका विरोध कर बताया कि सदाचार और कला में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सन् १९२९ में कालिफोर्निया (अमेरिका) विश्व विद्यालय के आचार्य प्रो० ह्वियल् ने इस विचार को पुष्ट कर यह प्रदर्शित किया है कि कविता मानव हृदय की अनुभूति है जो दूसरे मानव हृदय में पहुँचाई जाती है अतः उसका जीवन से पूर्ण रूपेण सम्बन्ध है, बिना इसके उसका कोई मूल्य नहीं। उन्होंने पाठक के पक्ष का जो भारतीय 'रसा भास' और साधारणीकरण' है उसे भी कुछ-कुछ ग्रहण किया है, इस आधार पर उन्होंने यह प्रगट करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य अपनी भावनाओं को काव्य की अनुभूतियों में अवश्य देखना चाहता है। क्योंकि मानव सामाजिक प्राणी है, इसलिए बिना सम्बन्ध के वह काव्य का रस ग्रहण नहीं कर सकता। यह बात स्पष्ट ही है कि यदि काव्य की अनुभूति में मानव अपनी भावना को नहीं देख पाता तो उसे ग्रहण करना उसके लिए असम्भव हो जाएगा।

अनुभूति के सम्बन्ध में क्रोचे काव्यानुभूति तथा भावानुभूति में भिन्नता मानते हैं। भावानुभूति उसकी दृष्टि में सुखात्मक या दुखात्मक हुआ करती है, परन्तु काव्यानुभूति अन्य प्रकार को होने के कारण सब प्रकार के काव्य पढ़े जाते हैं। परन्तु यह अन्तर व्यर्थ है, क्योंकि हम स्पष्ट देखते हैं कि काव्यानुभूति की भावानुभूति में, करुण रस सम्पन्न दृश्य के आधार पर कोई भेद भाव नहीं रह जाता। इसको पढ़ कर भी आँसू झलक आते हैं और आँसू आना भावानुभूति के वाह्य लक्षण हैं, अतः मनोविज्ञान की दृष्टि से यहाँ कोई भेद भाव नहीं रह जाता। मनोवैज्ञानिकों ने इस बात को लेकर काव्य-श्रवण से उत्पन्न अनुभूति को 'क्रीडावृत्ति' या 'अनुमूल्याभास',

कहा। आचार्य इस भेद भाव को स्वीकार न कर काव्यानुभूति को "हृदय की मुक्तावस्था मानते हैं।" जहाँ हृदय अपनी संकुचित सीमा से दूर विशेष भावों का अनुभव करता है। भाव या हृदय की अनुभूति के सम्बन्ध में क्रोचे की एक पंक्ति मिलती है "द्रव्य वह भावात्मकता है जो कला के रूप में निरूपित न हुई हो।"* द्रव्य का तात्पर्य स्पष्ट है कि मन के भीतर बाह्य प्रकृति के रूप संस्कार और भावात्मकता का अर्थ भावों को उद्वेलित करने की शक्ति, जो कुछ-कुछ इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं कि काव्य के अन्तर्गत रूपों का विधान भावों को जगाने के लिए होता है। इस पंक्ति से स्पष्ट होता है कि क्रोचे भी कहीं-कहीं काव्यानुभूति को भावानुभूति के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

क्रोचे के अलकार सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में यह व्यक्त किया जा चुका है कि वे अलंकार को उक्ति से भिन्न नहीं स्वीकार करते। इस प्रभाव के कारण ही हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में बातें प्रचलित की जाने लगी हैं जिसका तात्पर्य यही है कि अलंकार कविता के लिए आवश्यक नहीं। परन्तु आचार्य का मत है कि अलंकार-अलंकार्य का भेद हटाया नहीं जा सकता। अलंकारों के भीतर गौण अर्थ छिपा रहता है, जिसका मूल रूप में महत्व रहता है। पन्त की पंक्तियां दे आचार्य इस कथन की पुष्टि करते हैं कि मूल अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेद समझ लेना अति आवश्यक है। रस और अलंकार के भेद को क्रोचे ने इसलिए स्वीकार नहीं किया कि यह उसकी दृष्टि से कला-पक्ष में सहायक न होकर केवल तर्क-पक्ष के सहायक होते हैं। यहाँ उसने वैज्ञानिक समीक्षा और कला समीक्षा में भेद किया है। इस सम्बन्ध में आचार्य का विचार है कि जो वैज्ञानिक समीक्षा है, वही असल में कला-निरूपणी समीक्षा है, अन्यथा भावात्मक शब्दावली समीक्षा नहीं स्वीकृत की जा सकती। जब इस प्रकार की समीक्षा सम्बन्धी विचार धारा योरुप में उठने लगी तब से बहुत सी

* चिन्तामणि द्वितीय भाग पृ० २०५।

अर्थ शून्य बातें साहित्य में प्रचलित हो गईं, परन्तु रिचर्ड्स ने उसका पूर्ण विरोध किया। *

हिन्दी साहित्य में इसके प्रमुख स्वरूप बंगला से होकर अनेक भावात्मक शब्द; समीक्षा क्षेत्र के अन्तर्गत आ गए हैं। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि समीक्षा का अर्थ अच्छी तरह किसी बात का देखना और विचार करना है अतः वह सदा विचारात्मक होती है, भावनाओं का यहाँ प्रवेश नहीं रहता। भाषा के जो दो प्रयोग हैं—तथ्य-बोधक और भाव प्रवर्तक, समीक्षा में प्रथम का ही प्रयोग किया जाता है। कलावाद के प्रतिपादक मि० स्पेडार्न ने विचारात्मक और भावात्मक समीक्षा को 'मरदानी' और 'जनानी' समीक्षा कहा है। आचार्य यहाँ व्यंग्यात्मक रूप से लिखते हैं कि काव्य में केवल जनानी समीक्षा ही नहीं मरदानी समीक्षा भी होनी चाहिए।

'कलावाद' और 'अभिव्यंजना वाद' के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ पाई जाने लगी हैं जो निम्न लिखित हैं:—

(१) मार्मिक प्रस्तुत रूप विधान के प्रयत्न को त्याग अप्रस्तुत रूप विधानों का प्रयोग।

(२) जीवन के मार्मिक पक्ष की मार्मिक अनुभूति में लीन होने के स्थान पर उक्ति में वैचित्र्य लाने का प्रयास।

(३) काव्य-प्रबन्ध जो जीवन की मार्मिक दशाओं के प्रत्यक्ष करते हैं उसके स्थान पर प्रेम सम्बन्धी मुक्तकों की ओर प्रवृत्ति।

(४) अनन्त, असीम द्वारा आध्यात्मिक रंग लाना।

---

* But there indirect devices for expressing feeling through logical irrelevance and nonsense, through Statements not to be taken seriously, though preeminently apparent in poetry, are not peculiar to it great past of what passes for criticism comes under this head—Practical criticism, Past III Chap I.

(५) काव्य-कला सम्बन्ध में नक्काशी वाली धारणा का प्रयोग।

(६) समालोचना में विचारात्मकता के स्थान पर भावात्मकता का प्रयोग।

इन बातों के प्रतिपादन के पूर्व भारतीय काव्य के लक्ष्य को एक बार फिर से स्मरण कर लेना आवश्यक है, जिससे इन बातों की उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता अच्छी तरह समझी जा सकेगी। भारतीय काव्य का लक्ष्य संसार के मार्मिक पक्षों को इस प्रकार सामने रखता है जिससे व्यक्ति भावनाओं के संकुचित दायरे से ऊपर उस सर्व सामान्य के भाव की अनुभूति प्राप्त कर सके। इस साधना के अन्तर्गत जब वह लोक रक्षक परम पिता का चिंतन करता है, उस समय उसका हृदय भक्ति में लीन पाया जाता है। यहाँ आकर धर्म और ज्ञान एक हो जाते हैं हृदय और बुद्धि के एकीकरण द्वारा जीवन के उच्चतम आदर्श प्रतिष्ठित होते हैं। काव्य के आदर्श में हमारे यहाँ एक सामंजस्य जो भाव दशा का धर्म और ज्ञान से रहता है, उस पर ध्यान रखा गया है।

भारतीय दृष्टि से ज्ञान और भाव तथा बुद्धि और हृदय के सामंजस्य की जो बात कही गई है उसका तात्पर्य यही है कि दोनों का अपना-अपना स्वतंत्र क्षेत्र स्वीकार कर एक दूसरे का बाधक नहीं माना गया। संसार के अनेक तथ्य बुद्धि अपने सूक्ष्म चिंतन से स्पष्ट होते हैं और हृदय उनके मार्मिक रूपों को सामने रखता है। यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाए तो ज्ञान क्षेत्र के अन्तर्गत ही भावों का प्रचार होता है। क्योंकि भावों के लिए आलम्बन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं तब कहीं जाकर कल्पना द्वारा वे भिन्न रूपों में समन्वित होंते हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ ज्ञान-क्षेत्र और बुद्धि-व्यवसायात्मक क्षेत्र के विस्तृत हो जाने के कारण, हृदय के विस्तार की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी जिससे मूर्त्त रूपों का प्रत्यक्षीकरण सम्भव हो सके। यहाँ समस्त सृष्टि के विस्तृत ज्ञान-क्षेत्र से हृदय अपने लिए भावों का विधान ढूंढती है।

इस प्रकार भारतीय भक्ति तथा धर्म में ज्ञान का विरोध कभी नहीं रहा परन्तु सभी धर्म वालों के लिए जहाँ भाव क्षेत्र में ज्ञान का प्रवेश

सीमित था बहुत विरोध खड़ा किया गया। विरोध के कारण तत्व चिन्तकों द्वारा प्रवर्तित ज्ञान का बातें स्वाभाविक बुद्धि द्वारा ग्रहण न कर उनका आभास हाल की दशा में प्राप्त किया जाने लगा। ईसाई सन्त ग्रेगरी तथा सन्त वरनार्ड ने हाल की दशा में ईश्वर के आगमन को रूपक में 'छाया-दृश्य' (Phantasmata) कहा। इसका अनुकरण भक्ति के रहस्य मार्गों में पाया जाता है। सूफियों में शराब, प्याले आदि के रूपक निर्गुण पंथ साधुओं में वेदान्त और हठयोग के रूपक इसी का परिणाम हैं। अंग्रेजी कवि ब्लेक की कल्पना को ईश्वर का साक्षात्कार कहना तथा क्रोचे का अभिव्यंजना वाद इन्हीं रूपों की प्रतिछाया हैं। योरुप में छाया-दृश्य का प्राचार बहुत कुछ हुआ। सन् १८८५ में फ्रांस में जो प्रतीकात्मक कविताएं हुईं वह इसी आधार पर हुईं। यह प्रभाव ब्रह्म समाज पर भी पड़ा, जिसे ईसाई भक्त छाया-दृश्य के प्रभाव के कारण 'छायावाद' कहने लगे। यह 'छाया-दृश्य' हिन्दी साहित्य के शब्द 'छायावाद' का मूल हैं।

प्राचीन आर्य जातयों—यूनानी, रोमन तथा भारतवासियों में रहस्यवाद की प्रवृत्ति नहीं थी।* इन जातियों में परमार्थ, तत्व, बोध के लिए स्वतंत्र्य चिंतन का मार्ग अपनाया गया था। उपनिषद् और वेदान्त स्पष्ट चिंतन के परिणाम हैं। उपनिषद् में यदि कहीं कुछ बातें अनूठे ढग से मिलती हैं तो वे कहीं-कहीं भावनाओ का प्रमुख समझना चाहिये उन्हें रहस्यवादियों का स्वप्न या आभास को शब्दों का प्रस्फुटन कहना उप-

---

* Saken all in all, it is evident that mysticism played on inconsficitons Sole in the Religious life of the Hellenes. The Greek genius lored cleasness & self-possession too will to seek the divine in mystical darkness & Self-Surrender.

—The Psychologe of Religions Mysticism.
(James H. Laube.)

युक्त नहीं। ईसाई मत के प्रभाव से जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है ब्रह्म समाज ने उपनिषदों को व्यर्थ रहस्यमय बनाने का प्रयत्न किया।

सभी मतों की भक्ति साधना में दाम्पत्य-वासना का विशेष सहारा लिया गया जिससे उसमें माधुर्य-भाव पाया जाता है। ईसाइयों की धर्म पुस्तक में एक स्थान पर मिलता है कि जिस प्रकार दूल्हा दुल्हन के साथ रमण करता है उसी प्रकार ईश्वर तुझमें रमण करे।" इस दूल्हा को लेकर उन्होंने रमण के लिए अनेक कोठरियों का निर्माण हठयोगियों की तरह अपने आन्तरिक जगत में किया। आचार्य इस 'दूल्हे की रमण' के तथ्य को १२ वीं शताब्दी के सन्त बरनार्ड का उद्धरण देकर स्पष्ट करते हैं, वही प्रभाव हिन्दी-पत्रिकाओं में पाया जाता है।

भारतीय भक्ति-मार्ग में कृष्ण और गोपिओं के प्रेम में 'माधुर्य-भाव' मिलता है, परन्तु यह शुद्ध भावात्मक है इसमें उन रहस्यवादियों की तरह मूर्छा, उन्माद आदि नहीं मिलते। यह माधुर्य-भाव दक्षिण भारत से आया, जहाँ मन्दिर में देवदासियों का प्रचलन था जो पति रूप में भगवान् की उपासना किया करती थीं। दक्षिण की एक देवदासी अन्दाल का सन् ६६३ में लगभग माधुर्य-भाव से रंजित अनेक पद मिलते हैं, इस पर जब सूफियों का प्रभाव पड़ा तो यह भावनाएं कुछ-कुछ रहस्यात्मक बन गईं।

भारतीय धर्म की बात पहले भी व्यक्त की जा चुकी है कि यहाँ ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और योग-मार्ग अपने स्वतंत्र्य मार्ग पर चलते आए हैं, किसी को किसी से बाधा नहीं रही है। ज्ञान शुद्ध बुद्धि के बल पर चलता है और प्रेम स्वभाविक हृदय पद्धति द्वारा जिस प्रकार मनुष्य अपने पारिवारिक व्यक्तियों से करता है, यहाँ चित्त की विक्षिप्तता नहीं पाई जाती, परमात्मा किसी के सिर पर चढ़ कर नहीं बोलता। यह मार्ग अत्यन्त सरल सुबोध है, किसी से यहाँ किसी प्रकार का दुराव छिपाव नहीं। यहाँ यह बात नहीं कि जो वह जानता है वह दूसरे नहीं जानते। वह समझता है कि परमात्मा ज्ञात भी है और अज्ञात भी, अज्ञात की जानकारी वह दार्शनिक के लिए रहने देता है और जो ज्ञात रूप है उससे वह प्रेम करता है। ब्रह्म का जो ज्ञात रक्षक तथा रंजन का रूप भक्त को दिखाई

देता है, उसके प्रति वह आकर्षित हो श्रद्धा से नत हो जाता है। भारतीय सगुण भक्ति मार्ग सदा व्यक्त रूप राम और कृष्ण के इस जगत में देखे जाने वाले कार्यों के प्रति अपने भावों को व्यक्त होता चला है।

कविता का लक्ष्य तथा हृदय और बुद्धि का सामंजस्य जो ऊपर व्यक्त किया जा चुका है उसे ध्यान में रख अभिव्यंजनावाद से प्रभावित छै बातों पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम के अन्तर्गत यह भाव आता है कि काव्य में प्रस्तुत पक्ष का कोई महत्व नहीं, क्योंकि उसका सम्बन्ध जगत से नहीं रहता। यहाँ केवल अप्रस्तुत का विचार किया जाता है जिसका कारण यह है कि अभिव्यंजना आध्यात्मिक जगत की होती है। क्रोचे ने जीवन की वे बातें जो प्रस्तुत रूप में कहलाती हैं और जीवन से ली जाती हैं उन्हें मसाले के रूप में स्वीकार किया। इन बातों के सहारे नवीन सृष्टि खड़ी हुई और अप्रस्तुप पर महत्व दिया जाने लगा। यहाँ प्रस्तुत के द्वारा काव्य में अनुभूति उत्पन्न कराना उद्देश्य स्वीकृत नहीं हुआ, इस कारण उसे मार्मिक रूप देने की बात भी नहीं उठी। इस प्रकार कल्पना अप्रस्तुतों के रूप विधान करने लगी जैसा भारतीय साहित्य के अन्तर्गत अलंकार-वाद में बहुत कुछ हुआ। परन्तु जो केवल अप्रस्तुत रूप-विधान और उप-मानों की योजना में काव्य देखते हैं, उन्हें सच्चा कवि नहीं माना जा सकता। ऐसे कवियों को प्राचीन संस्कृत कवियों तथा अंग्रेजी कवि वर्ड्स-वर्थ की पंक्तियों का निरीक्षण करना चाहिए।

द्वितीय प्रभाव ने भावों की अनुभूति के मार्मिक पक्ष को त्याग उक्ति वैचित्र्य काव्य में अपनाया गया। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भारतीय वक्रोतिवाद है, जिसमें उक्ति की वक्रता को काव्य कहा गया है। परन्तु काव्य में वक्रता उतनी ही आवश्यक होती है जितनी किसी भाव की अनु-भूति को तीव्र करदे उससे अधिक वक्रता अर्थ बोध के लिए बाधक बन जाती है। भावना को गोचर व सजीव रूप इसके द्वारा प्राप्त होता है, अभिव्यंजनावाद के प्रभाव से खड़ी बोली की कविता में बहुत सजीवता और स्वच्छन्दता व्यंजना में आ गई है तथा अप्रस्तुत के विधान में केवल

सादृश्य और साधर्म पर ध्यान न रख प्रभाव का विचार भी किया जाने लगा है, परन्तु केवल वक्रता को सब कुछ मान बैठना ठीक नहीं।

तीसरे प्रभाव के कारण योरुप में महाकाव्य बहुत कम उपलब्ध हो रहे हैं। मिल्टन, दांते और गेटे की रचनाएं अन्तिम रह गई हैं जिसका कारण यह है कि कवियों की प्रतिभा वाह्य-निरूपण न रह कर केवल अन्तर्वृत्ति-निरूपण रह गई है। जिसके कारण महाकाव्य की विशाल योजना करना कवियों के लिए सम्भव नहीं रही। डाक्टर केर (W. P. Ker) ने इसका कारण उपन्यासों का अधिक प्रचलन बताते हैं जिसमें अधिकतर संवादों का प्रयोग होता है, प्रबन्ध काव्यों में भी उसका प्रयोग किया जाने लगा है। यह प्रभाव हिन्दी साहित्य में भी दिखाई देने लगा है, उदाहरणार्थ मैथिली शरण जी गुप्त के 'साकेत' के अन्तर्गत भाव और संवाद की प्रधानता पाई जाती है। क्योंकि यह उसी प्रगति-काव्य लिखने के तथा संवाद के प्रभाव में लिखा गया है।

आचार्य का विचार है कि मूलतः यह 'कलावाद' और 'अभिव्यंजनावाद' के प्रभाव का परिणाम है, जिसमें मुक्तक रचनाओं की ओर साहित्यकारों का ध्यान केन्द्रित कर दिया। भक्ति काल प्रबन्ध काव्य का युग था, रीति काल में आकर फुटकर रचनाएं होने लगी और आज कल अंग्रेजी के प्रभाव से प्रगति मुक्तक लिखे जाने लगे हैं।

पाँचवी प्रवृत्ति के अन्तर्गत कविता को आध्यात्मिक रूप देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। परन्तु यह बात कवियों को स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि रहस्यवाद की कविता अलग होती है और केवल अनन्त, असीम आदि शब्दों के जोड़ देने से कविता रहस्यवादी नहीं बन जाती। यह तो केवल व्यंजना की प्रणाली मात्र है अतः इस विलायती बंगला के प्रभाव को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए किसी कवि विशेष की कविता देख उसी रंग में लीन हो जाने से कोई लाभ नहीं। इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि असीम, अनन्त के राग को छोड़ जब किसी कवि की कविता मार्मिक वस्तु या तथ्य की उद्भावना करती है तब वह उपर्युक्त कविता से बहुत सुन्दर बन जाया करती है।

पाँचवे प्रभाव की बात पहले भी व्यक्त की जा चुकी है। परन्तु यह धारणा काव्य के लक्ष्य को उसके उच्च स्तर से गिरा देने की है। रवीन्द्र-नाथ ठाकुर भी आचार्य के मत से इस धारा से प्रभावित प्रतीत होते हैं। काव्य में जो संश्लिष्ट रूप योजना तथा भावनाओं में एक व्यापक सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है, उसका कारण यह प्रभाव ही है।

समालोचना के सम्बन्ध में जिस छटी बात का प्रतिपादन किया गया है उसके लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विचारों द्वारा ही साहित्य का विकास सम्भव है। अन्यथा विचार शून्यता के रहने से साहित्य में अनेक प्रकार के व्यर्थ के मतभेद और प्रभाव जो किसी प्रकार उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते साहित्य के अन्तर्गत आ सकते हैं।

सारांश यह है कि क्रोचे ने अपने अभिव्यंजनावाद में अभिव्यक्ति को ही कला कहा है। परन्तु यह सर्वमान्य बात है कि साहित्य के दो पक्ष होते हैं—कला पक्ष और भाव पक्ष यदि अनुभूति नहीं तो अभिव्यक्ति किसकी की जाएगी ? और यदि अभिव्यक्ति ही नहीं तो अनुभूति का पक्ष कमजोर पड़ जाएगा। दोनों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अनुभूति का सम्बन्ध जीवन से है रहा अभिव्यक्ति, तो अभिव्यक्ति केवल उस अनुभूति का आवरण मात्र है। इस दृष्टि से क्रोचे का 'वाद' जीवन के अलग दृष्टि-कोण लिए हुए है। भारतीय साहित्य के अनेक लेखकों पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।



अध्याय ६

रहस्यवाद सम्बन्धी विचार

काव्य का उद्देश्य और उसका क्षेत्र

काव्य का उद्देश्य, आचार्य मानव का सर्व सामान्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कराना मानते हैं। रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भावों का परिष्कार अति आवश्यक है, कविता इस परिष्कार के लिए आलम्बन उपस्थित करती है। यह आलम्बन प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र से लिए जाते हैं। इस प्रकार कविता मानव का जगत के अनेक रूपों के साथ स्वाभाविकता ही सम्बन्ध स्थापित कर देती है। व्यक्ति जब समष्टि में लीन हो जाता है तभी उसे जीवन का सच्चा स्वरूप और सौन्दर्य की अनुभूति होती है। जीवन के सौन्दर्य में एक विशेषता पाई जाती है, वह यह कि इसके विपरीत भावों का विधान रहता है। इन प्रतिकूल भावों के सामंजस्य द्वारा क्रियात्मक सौन्दर्य को सच्चा प्रकाशन मिलता है। अतः एकांगिक भावों पर आधारित निश्चेष्ट सौन्दर्य में ही कविता देखना उसे जीवन से अलग कर देना है।

योरुप का लोकादर्शवाद कविता से मानव की अन्तः प्रकृति के एक पक्ष को बिल्कुल अलग रख देता है, जहाँ प्रेम और भ्रातृ भाव के आदर्श पर तामसी वृत्तियों का दमन किया जाता है। इन लोगों का मत है कि आदर्श को सदा सामान्य स्तर से ऊंचा रखना चाहिए। परन्तु आचार्य का विचार है कि इसी आदर्श में केवल लोक-मंगल का विधान स्वीकार करना काव्य के क्षेत्र को संकुचित करना है। इसमें दो ही पक्ष अत्याचारी और पीड़ित मिलते हैं, तीसरे के सौन्दर्य का विधान सम्भव नहीं। तीसरे

में यदि मिलता है तो केवल प्रेम और सहिष्णुता, इसके विपरीत अत्याचार से दुखी हो उत्साह के साथ क्रोध का विधान अधिक अच्छी तरह कर्म सौन्दर्य की उपस्थिति कर सकेगा। मानव के हृदय के एक पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों में केवल निवृत्ति मिलती है, जहाँ केवल स्वप्न रहते हैं। इसे एक पक्षीय कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। आचार्य प्रवृत्ति और निवृत्त दोनों को साथ लेकर चलने के पक्षपाती हैं, इसी कारण वे अपने इस विचार को 'सामंजस्यवाद' का नाम देते हैं। आदर्श लोक, मानव की एक ऐसी कल्पना है, जो सदा साध्य ही रहती है। यदि इसकी प्राप्ति हो जाय, तब कर्म का कोई महत्व नहीं रहेगा। इस साध्य के लिए मानव प्रयत्न शील है, जिसके द्वारा मानव केवल अपने निज के कष्टों को दूर करने के लिए प्रयत्न शील नहीं रहता वरन् वह लोक मात्र के लिए प्रयत्न शील रहता है और इसी से जीवन का सौन्दर्य सामने आता है। अंग्रेजी कवि ब्राडनिंग का उद्धरण दे आचार्य इस बात की पुष्टि करते हैं। अपका मत है कि जगत के बीच ही जीवन-सौन्दर्य तथा भगवान की मंगलमयी शक्ति की अभिव्यक्ति सम्भव है। रहस्यवाद और छायावादी कविताओं के दृष्टिकोणों को सन्मुख रख आचार्य लिखते हैं कि जो कवि आन्तरिक जगत में काव्य ढूँढते हैं तथा अज्ञात के प्रति अपने भावों का प्रदर्शन करते हैं, वे काव्य को बहुत संकुचित घेरे में सीमित कर देते हैं।

सृष्टि का जो रूप हमारे सन्मुख है, उसमें अपने संकुचित भावों से दूर अपने को उसमें लीन करना, ब्रह्म की सत्ता में अपने को लीन करना है। कुछ लोगों का विचार है कि प्रत्यक्ष अनुभूति का काव्यानुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। काव्य की अनुभूति निराली होती है। इस कारण योरुप में बहुत मत भेद चलता रहा अन्त में जाकर रिचर्डस ने उसकी असारता प्रदर्शित करदी। उपर्युक्त पंक्तियों में इसी बात का प्रतिपादन किया गया है कि मानव जब अपने संकुचित विचारों को त्याग सर्व सामान्य से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब उसकी स्थिति काव्यानुभूति में समझनी चाहिए इसके विपरीत यह समझना कि केवल विशेष शब्द, रंग

और पत्थर द्वारा जो अनुभूति होती है उसे काव्यानुभूति समझना उपयुक्त नहीं। इसी सामान्य के तादात्म्य वाली काव्यानुभूति की ओर सच्चे कवि प्रेरित हुआ करते हैं, इसी आधार पर काव्य और काव्याभास में अन्तर किया जा सकता है।

'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' वाले निबन्ध में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मंगल शक्ति का उदय संसार के बीच पाई जाने वाली अमंगल शक्तियों के बीच ही किया जाता है। प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले कवि श्रेष्ठ स्वीकृत किए गए हैं अतः मंगल विधान के लिए अज्ञात लोक में विचरण करना आचार्य की दृष्टि से संसार से पलायनवाद करना है। अतः यह पूर्ण-रूपेण स्पष्ट है कि कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जिस प्रकार संसार द्वारा उस ब्रह्म की अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार कविता द्वारा इस जगत की अभिव्यक्ति की जाती है, इसलिए कविता का सम्बन्ध अव्यक्त सत्ता से स्थिर करना उपयुक्त नहीं।

काव्य का जन्म प्रत्येक देश में इसी जगत की अभिव्यक्ति के आधार पर हुआ। संसार के रूपों को देख प्रत्येक मानव के हृदय में एक ही प्रकार की अनुभूतियाँ जगी, जिनके द्वारा सामान्य आलम्बन सामने आए और जब अनुभूति-योग में 'परम हृदय' की झलक की बात पर ध्यान गया। तभी से कविता समस्त चराचर के साथ तादात्म्य कराने लगी। क्रौंच का वध देख बाल्मीकि की वाणी से जो प्रस्फुटन हुआ उसमें समस्त चराचर के साथ तादात्म्य वाले भाव निहित थे। वहाँ लोक रक्षा और लोक रंजन की भावनाएं मूल रूप से दिखाई देती है। इस घटना में कवि ने लोक-व्यापार का एक नित्य रूप अनुभव किया, जिसके बीच मंगलमयी शक्ति, जिसमें शील-शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय था उसके उन्होंने दर्शन किए। वाह्य प्रकृति में जिस प्रकार दो रूप मिलते हैं उसी प्रकार आन्तरिक प्रकृति में भी दो प्रकार के भाव और वृत्तियाँ मिलती हैं उनका समन्वय करना काव्य का सबसे बड़ा उद्देश्य है। शुक्ल जी का मत है कि बाल्मीकि जिस आदर्श की स्थापना कर गए थे उसे ही आज बीसवीं

शताब्दी में जाकर रिचर्ड्स ने इंगलैंड में पूरा किया। आज के युग में कवि की वाणियाँ अनेक प्रकार के सन्देश दिया करती हैं, उस दृष्टि से यदि देखा जाए तो आदि कवि बाल्मीकि का सन्देश था कि अपनी दृष्टि को समस्त चराचर तक फैला, उनके भावों के साथ एक रूपता का अनुभव करो। करुणा द्वारा इसी भाव का प्रतिपादन किया गया है।

आदि कवि का सन्देश उनके द्वारा किए गए प्राकृतिक वर्णन द्वारा पूर्ण रूप से सिद्ध होता है, जिस सूक्ष्मता से प्रकृति का वर्णन किया गया है उससे स्पष्ट है कि उनका हृदय प्रकृति से साथ पूरा सहयोग रखता था। वर्णन 'बिम्ब ग्रहण' रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। मानव हृदय स्वभावितः प्रकृति की ओर आकर्षित होता है क्योंकि इनके प्रति मानव हृदय में परम्परागत वासना रूप में प्रेम छिपा रहता है। सभ्यता का आवरण किस प्रकार इन मूल रूपों को आच्छादित कर देता है और कविता कैसे फिर से उस आवरण को दूर कर सकती है, इन बातों का स्पष्टी करण 'कविता क्या है' नामक निबन्ध में किया जा चुका है। सभ्यता के घेरे में पाए जाने वाले दुष्परिणामों के कारण योरप में अध्यात्मकवाद, आत्मा की एकता, ब्रह्म की व्यापकता' आदि बातें सामने आने लगीं। आचार्य इनको बनावटी कह सच्चा उपाय समस्त चराचर में 'एक हृदय' की अनुभूति का होना मानते हैं। मनुष्येतर प्राणियों—पशु, पक्षी, वृक्ष लता इत्यादि के प्रति प्रेम स्वाभाविक ही रहता है। बाल्य काल्य से यदि इनमें से कोई वस्तु हमारे सम्पर्क में आती रही तो उसके प्रति भी हम निजत्व का भाव रखने लगते हैं। आचार्य का मत है कि साहित्य में इनको अधिक से अधिक स्थान दिया जाना चाहिए।

प्रकृति के रूपों द्वारा अनेक भावों, तथ्यों तथा अन्तर्दशाओं की व्यंजना भी की जाती है। इस बात को योरप के साहित्य-समीक्षकों ने भी स्वीकार किया है। इन तथ्यों और भावों की व्यंजना को सदा काव्य ही माना गया है। आचार्य कवि वर्ड्सवर्थ का उद्धरण दे इस बात को पुष्ट करते हैं। अन्योक्तियों का विधान इन्हीं व्यंजनाओं द्वारा हुआ है। जो बहुत स्वाभाविक रहता है। प्रकृति के दृश्यों का संश्लिष्ट चित्रण भी काव्य का

आवश्यक अंग है। यह कवि की दृष्टि प्रकृति के अनुराग के प्रति रहती है और प्रकृति के आधार पर तथ्यों के वर्णन में मानव जीवन पर दोनों का बराबर महत्व है। योरप के समीक्षकों ने इनमें एक दूसरे के महत्व को कम करना चाहा परन्तु अंग्रेजी कवि शैली, वर्ड्सवर्थ, मेरडिथ दोनों को लेकर चले उन्होंने तथ्य ग्रहण भी किया और संश्लिष्ट चित्रण भी उपस्थित किए। इस प्राकृतिक सच्ची व्यंजना के अतिरिक्त यदि किसी भाव और तथ्य का आरोप होगा तो वह केवल अंलकार मात्र रहेगा परन्तु यह तथ्य और विधान प्रकृति के किसी वास्तविक मर्म को अनुभूति नहीं बन सकता।

रहस्य भावना का प्रादुर्भाव

शुक्ल जी रहस्य भावना के प्रादुर्भाव को जिसके द्वारा अज्ञात और परोक्ष के तथ्यों की व्यंजना होने लगी विदेशी समझते हैं। इसका सबसे प्रथम प्रथक रूप कबीर आदि निर्गुण उपासकों में मिलता है, जिसकी एक आध लहर सूरदास में भी छलक जाती है। आप अन्योक्तियों के आधार पर की हुई अज्ञात की व्यंजना 'कृत्रिम और काव्यगत सत्य के विरुद्ध समझते हैं।' जिस तथ्य का मनुष्य को ज्ञान नहीं है और जिसकी उसे कभी अनुभूति ही नहीं हुई उसके रागों को कल्पना कहाँ तक ठीक है ? केवल अज्ञात और अगोचर की भाव व्यंजना को कविता स्वीकृत करना ठीक नहीं। असीम और अनन्त को समझने के लिए अज्ञात की ओर बढ़ना ठीक नहीं, वह तो व्यक्त पक्ष में भी मिल सकता है। अज्ञात के प्रति 'जिज्ञासा' अवश्य हो सकती है, परन्तु 'लालसा' का कोई महत्व नहीं।

सच्ची कविता में जगत की अभिव्यक्ति रहती है, 'वाद' नहीं रहता। 'वाद' को ध्यान में रखने वाली कविता किसी सम्प्रदाय सम्बन्धित तथ्यों को मूर्त्त रूप में व्यक्त करती है। सम्प्रदाय सम्बन्धी तथ्य रहने के कारण विभिन्न सम्प्रदाय वाले व्यक्ति उसकी अलग-अलग अनुभूति ग्रहण करेंगे। इस प्रकार काव्य अपने उद्देश्य से दूर केवल सम्प्रदाय के विचारों का विधान मात्र रह जाएगा। भारतीय साहित्य ने कभी भी दर्शन को अपने

बीच लाने का प्रयत्न नहीं किया। निर्गुण सम्प्रदाय वालों में जो दार्शनिक शब्दों की व्यंजना मिलती है, वह सूफियों के प्रभाव के कारण। इनकी व्यंजना रूपकों तथा अन्योक्तियों द्वारा की गई है। शुक्ल जी का मत है कि यहाँ जो योजना केवल दार्शनिक वादों के आधार पर हुई है उसके विपरीत जो योजना सर्वानुभूत तथ्य को व्यंजित करने के लिए हुई है, वह अधिक मर्म स्पर्शी बन पड़ी है। कबीर के दो उद्धरण दे आचार्य इस बात को पुष्ट करते हैं। साम्प्रदायिक सिद्धान्त को काव्य रूप में प्रस्तुत करने वाले तथा लोक आधार पर स्थित तथ्य की उक्तियों में अनुभूति की दृष्टि से विशेष अन्तर है। कबीर वाद से अधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं। उनकी कविता जिसमें दार्शनिक सिद्धांन्त तथा शब्दों का प्रयोग किया गया है, केवल पहेलियाँ मात्र प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत जो कविताएं वाद के प्रभाव से दूर रख लिखी गई हैं उनको सच्चा काव्य कहा जा सकता है।

योरप के काव्य क्षेत्र में आज कल मानव की वर्त्तमान और भविष्य की स्थिति से सम्बन्धित तथ्यों और भावनाओं को मूर्त्त रूप में प्रत्यक्षीकरण करना अधिक पाया जाता है। परन्तु कभी-कभी सूक्ष्म विचार वाले कवि भी बाद मार्गी बन जाते हैं। वे अध्यात्म की ओर झुक रहस्य भावना की व्यंजना करने लगते हैं, जिससे वे काव्य की स्वाभाविकता नष्ट कर देते हैं। आचार्य अबर क्रोचे का उदाहरण लेते हैं, उनमें योरप के काव्य सम्बन्धी विभिन्न प्रवृत्तियाँ थोड़ी बहुत मात्रा में पाई जाती हैं उनकी कविता का उदाहरण देकर आप यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जहाँ कवि 'शरीर और आत्मा' नामक कविता में शरीर द्वारा आत्मा को यह चेतावनी दिलवाते हैं कि यदि आत्मा 'चेतना के तंग घेरे' से बाहर होने के लिए मनोमय कोश को फेंक देगा तो वह संसार में विस्तृत आनन्द की अनुभूति को खो देगा। यहाँ आचार्य उनसे सहमत हैं कि "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्यभूमि है।" इन विचारों के अतिरिक्त अबर क्रोचे में 'अज्ञात की लालसा' भी मिलती है। इसका विधान उन्होंने 'संत थूमा का आत्म-विक्रय' नामक काव्य में किया है। यहाँ ईसा द्वारा रहस्यवाद का प्रति-

पादन कराया गया है, जिसका सारांश है कि लालसा व्यक्ति के संकुचित क्षेत्र तक सीमित न रख, अज्ञात तक रखनी चाहिए। लालसा उन वस्तुओं के प्रति होती है जिसकी प्राप्ति से आनन्द का अनुभव होता है। परन्तु संसार में पाई जाने वाली वस्तुओं में सुख और आनन्द के साथ-साथ दुख मिला रहता है तथा मानव की भावना उतने आनन्द से जो उसे केवल इस जगत में दिखाई देता है तृप्त नहीं रहता। वह उसे अधिक पूर्ण रूप में देखना चाहता है। आचार्य के मतानुसार मानव की भावना और कल्पना चार क्षेत्रों द्वारा पूर्ण-सौन्दर्य को प्राप्त कर सकती है। यह क्षेत्र हैं—

(१) "इस भूलोक के बाहर, पर व्यक्त जगत के भीतर ही किसी अन्य लोक में।

(२) रस भूलोक के भीतर ही, पर अतीत के क्षेत्र में।

(३) इस भूलोक के भीतर ही, पर भविष्य के गर्भ में।

(४) इस गोचर जगत् के परे अभौतिक और अव्यक्त के क्षेत्र में।" ❀

प्रथम की ओर मनुष्य का ध्यान सबसे पहले गया। उसे जगत के अनन्त रूप का अनुभव हुआ। विस्तृत आकाश और अगणित नक्षत्रों ने उसके इस भाव को पुष्ट किया। इनके बीच वह स्वर्ग की कल्पना करने लगा, जहाँ अनन्त सुख और सम्पदा रहती है। इतिहास और कथा-पुराणों का प्रचार जब मानव में हुआ तब दूसरे क्षेत्र को जन्म मिला। इन कथाओं द्वारा मानव भूतकाल की वीरता, धीरता, सुख सम्पत्ति के विषय में अनेक बातें सुनने लगा, जिससे उसको भूतकाल के सुख की धारणा पुष्ट हो गई। यह विचार एशियाई जातियों में आज भी पाया जाता है। तीसरे क्षेत्र की उत्पत्ति आधुनिक काल की देन है। सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों में अनेक प्रकार की समस्यों को जन्म दिया जिसके द्वारा मानव अधिकतर व्याकुल रहने लगा। जिसे देख भविष्य के

❀ चिन्तामणि द्वितीय भाग पृ० ८२।

सुख की कल्पनाएं की जाने लगीं। परन्तु आचार्य इस भविष्य की कल्पना को प्रस्तुत जीवन का प्रेम ही स्वीकार करते हैं मानव का यह प्रेम अनेक प्रकार की आशाएं कर पूर्ण सुख की खोज करने लगा। यहाँ कविता में भविष्य का चित्रण, परलोक के सुन्दर चित्रण के सदृश्य किया जाने लगा। शुक्ल जी दीर्घ वंश परम्परागत वासना के कारण जिसका उल्लेख 'कविता क्या है' नामक निबन्ध में किया जा चुका है 'भूत के प्रेम' को 'भविष्य के प्रेम' से अधिक महत्व देते हैं। क्योंकि परम्परागत वासनाओं के कारण उनके साथ रागात्मक सम्बन्ध अधिक अच्छी तरह स्थापित हो जाता है, रही भविष्य की बात जिसके बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है उसके प्रति सम्बन्ध निर्वाह अत्यन्त कठिन है। तीसरे क्षेत्र में पाई जाने वाली बात जो 'भविष्य के प्रेम' के सम्बन्ध में अभी कही गई है, वही तथ्य अज्ञात के प्रति भी कहा जा सकता है। आचार्य लिखते हैं "अतः तत्व दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात की लालसा' कोई भाव ही नहीं है। यह केवल 'ज्ञात की लालसा' है जो भाषा की छिपाने वाली वृत्ति के सहारे 'अज्ञात की लालसा' कही जाती है।" * सुख-सौन्दर्य भाव को इस क्षेत्र के अन्तर्गत पूर्ण रूप देने वाली दृष्टि सूफी सन्तों की गई। उन्होने संसार को ईश्वर की रचना न मान, उसकी 'प्रतिछाया' माना। जिससे प्रतिबिम्ब वाद और अभिव्यक्ति वाद. के एकीकरण तक जो कविता उनके द्वारा लिखी गईं उसमें कृत्रिमता नहीं आ सकी। सूफी कवियों की दृष्टि ईश्वर की प्रतिछाया को देखने और दिखाने पर दृष्टि रही, इसका कारण आचार्य के मतानुसार यह था कि सूफियों को भारतीय काव्य-क्षेत्र द्वारा अधिक रमणीय रूप प्राप्त हुए थे। इसके विपरीत योरप में कल्पना का अधिक विधान किया गया, जिससे उनके 'रहस्यवाद' में अज्ञात के रूपों की अधिक व्यंजना मिलती है।

योरुप के साहित्य शास्त्रियों ने 'कल्पना' को विशेष रूप से अपनाया, वे उसी कविता को जिसमें कल्पना के वैचित्र्य द्वारा प्रकृति के रूपों की

* चिन्तमणि द्वितीय भाग पृ० ८५।

अधिक रमणीयता दी जाए उसे प्रस्तुत करे, अथवा प्रकृति के रूपों पर ध्यान न रख अपनी अन्तःवृत्ति से चमत्कृत रूप प्रस्तुत करे। श्रेष्ठ कविता कहने लगे। परन्तु आचार्य इसमें सहमत नहीं थे कल्पना का उपयोग वहीं तक करना चाहते हैं जहाँ तक वह प्रस्तुत दृश्यों के लिए बाधित न बने, कल्पना के सहारे काव्य के नाम पर अजायब घर निर्माण करना, कविता के मार्ग से उसे दूर ले जाना होगा। वे अलंकारों का उपयोग भी इसी सीमा तक करने के पक्षपाती हैं।

योरुप के काव्य-क्षेत्र में सुख-सौन्दर्य को अज्ञात की ओर ले जाने की प्रेरणा जर्मन दार्शनिक काँट के 'प्रत्ययवाद' से प्राप्त हुई। उन्होंने कहा कि मन को जिसका बोध होता है वे उसी (मन) के रूप हैं। परमार्थ-पक्ष में ईश्वर, जगत, आत्मा को असिद्ध कहा गया तथा व्यवहार-पक्ष में उसे स्वीकृत किया गया। इच्छा, बुद्धि तथा बाहरी नियमों से बद्ध नहीं रहतीं केवल सर्वगत धर्म नियम उसे आदेशित कर सकते हैं, जो अगोचर जगत की ओर ले जाकर आत्मा और ईश्वर का बोध कराती है। यदि जीवन के मंगल पर विचार किया जाए तो धर्म और सुख का संयोग स्थापित करने के लिए ईश्वर को मानना आवश्यक हो जाता है। सुख सम्पन्नता के लिए यह जीवन पूर्ण नहीं अतः अनन्त जीवन स्वीकार किया गया। काँट के व्यवहार-पक्ष तथा शंकराचार्य के दार्शनिक विचार दृष्टि के नाते एक हैं, परन्तु फिर भी दोनों में बहुत अन्तर है। शंकराचार्य के विचारानुसार उपासना के क्षेत्र में ब्रह्म सगुण रूप धारण कर लेता है वहाँ काँट जैसी अव्यक्त और निर्गुण सत्ता का आभास नहीं मिलता। जिसने सुख-सौन्दर्य भावना को अव्यक्त के साथ संलग्न कर दिया।

भारतीय दृष्टि के अनुसार हम अज्ञात के प्रति जिज्ञासा कर सकते हैं, लालसा का कोई अर्थ नहीं होता। मुक्त का अर्थ केवल वर्तमान दुखों से छुटकारा है, उसके आगे की न कोई जानता है और न चिन्ता करता है। यहाँ भी सम्बन्ध व्यक्त से रहता है। जिज्ञासा का सम्बन्ध ज्ञान से है, जिसके पीछे जानने की इच्छा का भाव निहित रहता है। यहाँ ज्ञेय वस्तु के साथ राग-द्वेष नहीं रहता। भारतीय दृष्टि अव्यक्त ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा

और व्यक्त सगुण भगवान् के प्रेम की लालसा तथा सामीप्य की अभिलाषा रखती है। उपर्युक्त पंक्तियों में जैसा व्यक्त किया गया कि भारतीय दृष्टि के अनुसार लालसा जो रक्ति भाव का अंग है, अव्यक्त के प्रति कोई अर्थ नहीं रखती। अतः अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात की अभिलाषा यह विदेशी कल्पना हैं, जो धार्मिक बन्धनों के कारण पैगम्बरी मत वाले देश में की जाने लगी। यह ज्ञान क्षेत्र का विषय है, जिसको भारतीयों ने उपासना तथा काव्य क्षेत्र में नहीं आने दिया। यह अभी कहा जा चुका है कि भारतीय दृष्टि उपासना के क्षेत्र में सदा व्यक्त और ज्ञात के प्रति ही आकर्षित रही। कभी इस क्षेत्र में ईश्वर की दया, प्रेम, औदार्य आदि जो अन्तःकरण-ग्राह्य भावनाएं हैं उसके द्वारा इन्द्रिय और मन से परे ब्रह्म को पास लाया गया। कभी बाह्य-करण ग्राह्य-भावनाओं द्वारा विष्णु, शिव आदि देव रूपों में ब्रह्म देखा गया। इसके अतिरिक्त भारतीय दृष्टि का आदर्श नर में नारायण देखने का रहा, उन्होंने कभी भी अव्यक्त और अज्ञात की ओर दृष्टि नहीं रखी। इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए आचार्य लिखते हैं कि सुख-सौन्दर्य भावना की चरम सीमा पर ले जाने के लिए व्यक्त से दूर जाने की कोई आवश्यकता नहीं। भावना में आई हुई रूप योजना चाहे कितनी ही दूरागत की हो, व्यक्त प्रकृति ही की होगी। समिष्ट रूप से यह जगत अनन्त स्वीकृत किया जाता है। ब्रह्म के जो मूर्त और अमूर्त रूप कहे गए हैं, उनमें मूर्त रूप गतिवान और परिवर्तन शील के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह अभी कहा जा चुका है कि ब्रह्म अनन्त और असीम है। ब्रह्म के दोनों रूपों में यह असीमता विद्यमान है। असीम और अनन्त के लिए अव्यक्त की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं। स्पष्ट ही है कि इस मूर्त्त विराट रूप में अनेक ब्रह्माण्डों, सौर चक्रों का निर्माण तथा विनष्टी करण होता रहता है, परन्तु फिर भी समिष्ट रूप इसका वैसा ही बना रहता है। अतः भारतीय दृष्टि सुख-सौन्दर्य भावना के विधान में सदा व्यक्त गोचर पर ही केन्द्रित रही है।

हृदय की भावनाओं का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध आचार्य नहीं मानते हैं। भावों का अव्यक्त से सम्बन्ध प्रतिविम्ब वाद और

कल्पना वाद का प्रभाव है, आपका मत है कि यदि यह कहा जाए कि इस दृश्य जगत में एक अव्यक्त सत्ता निहित है, अतः जिस प्रकार प्रकृति के रूपों के प्रति अनुराग प्रदर्शित किया जाता है उसी प्रकार अव्यक्त सत्ता के प्रति अनुराग दिखाने में क्या हानि ? तो इसके द्वारा काव्य क्षेत्र में बहुत कुछ असत्य बातों का प्रचार सम्भव हो सकता है।

शुक्ल जी रहस्य भावना के दो रूप लेते हैं–एक वह रहस्य भावना जो किसी प्रकार के वादों' से प्रभावित होती है जिसके अन्तर्गत वे 'प्रतिबिम्ब वाद' तथा 'कल्पना वाद' को लेते हैं। इसके विपरीत जो रहस्य भावना वाली कविता किसी वाद से प्रभावित नहीं रहती उसे वे स्वभावितम रहस्य-भावना मानते हैं। इसी दृष्टि से वे भाव क्षेत्र में अव्यक्त की 'जिज्ञासा' का महत्व स्वीकार करते हैं। कवि जिस कारण प्रकृति क्षेत्र के किसी अभिव्यक्ति सौन्दर्य अथवा माधुर्य की व्यंजना करता है। यहाँ उत्सुकता या अभिलाषा व्यक्त और ज्ञात के प्रति ही रहेगी। कवि अपने सन्मुख के सौन्दर्य से इतना प्रभावित होता है कि वह ऐसे लोक की कल्पना जो व्यक्त होगा, की भावना करता है, जहाँ सुख सौन्दर्य इतना परिमित क्षेत्र में नहीं रहेगा। यहाँ असीम की अभिलाषा और अज्ञात की लालसा वाली बात नहीं रहती। शैली की कविता 'जिज्ञासा' का उद्धरण देकर आचार्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। यह बात ऊपर व्यक्त की जा चुकी है कि शुक्ल जी स्वाभाविक रहस्य-भावना को स्वीकार करते हैं, परन्तु वे वादों के पक्षपाती नहीं। प्राकृतिक सौन्दर्य के आधार पर अज्ञात के प्रति अनेक संकेत मात्रों की अभिव्यक्ति में वे काव्यगत सौन्दर्य देखते हैं, परन्तु जब अज्ञात को अव्यक्त और अगोचर कह कर भी उसके रूपों का चित्र उपस्थित किया जाने लगता है तभी हृदय पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। अनेक रूपों के चित्रण द्वारा पाठक अज्ञान की ओर बढ़ता है तथा कवि इसका लाभ उठा अपने अहङ्कार को सन्तुष्ट करता है।

आचार्य का मत है कि कवियों के सम्बन्ध में यह पहिचानना कि कौन सच्ची रहस्य-भावना लिए चल रहा है और कौन किस 'वाद' से प्रभावित है, अत्यन्त कठिन है। कभी-कभी एक कवि दोनों रूपों में दिखाई

देता है। अबरक्रोंबे और श्रीरवीन्द्र नाथ ठाकुर की कविताओं का उद्धरण दे आप इस बात की पुष्टि करते हैं। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में भारतीय काव्य दृष्टि से सम्बन्धित विचार शुक्ल जी अनेक स्थानों में स्पष्ट कर चुके हैं भारत की कविता सदा इस गोचर प्रकृति के रूपों को लेकर चली है, इसके बाहर उसकी दृष्टि नहीं जाती और साथ ही वह सापेक्ष गत्यात्मक सौन्दर्य की नित्यता और अनन्तता को लेकर चलता है। यह रूप कभी-कभी वाद मुक्त पाश्चात्य कवियों में भी पाया जाता है।

भारतीय काव्य दृष्टि के आधार पर काव्य की आत्मा रस है और मूल रूप से कविता में भाव ही रहते हैं। जगन्नाथ पंडित द्वारा प्रतिपादित कविता में 'अर्थ की रमणीयता' को प्रधानता देना किसी न किसी रूप में मन का रमना ही है, अतः रसानुभूति ही काव्य में प्रमुख रहती है। आचार्य का मत है कि पाश्चात्य साहित्य में जहाँ कल्पना को प्रधानता दी गई वहाँ 'रसात्मक वाक्य काव्य कहा जाने लगा', परन्तु इन्होंने कल्पना पक्ष को छोड़ केवल भाव पक्ष का निरूपण किया। लेकिन भारतीय रस-योजना की भाव-पद्धति में कल्पना का भी पूरा-पूरा समावेश है। अनुभावों और विभावों में कवि की रचनात्मक कल्पना और उसका रूप ग्रहण करने के लिए पाठक को ग्रहण करने वाली कल्पना की आवश्यकता होती है। भारतीय काव्य में प्रभाव दो रूपों में स्वीकार किए गए हैं—

(१) भाव व्यंजना के अनुसार लीन होना।

(२) व्यंजना में लीन न होकर, व्यंजना को स्वभाविकता को स्वीकार करना।

प्रथम प्रभाव को उच्च स्थान दिया गया है, रस की पूर्ण अनुभूति इसी का प्रभाव है। स्थायी भाव द्वारा रस की पूर्ण अनुभूति हुआ करती है। स्थायी के अतिरिक्त अन्य भावों का विधान करने पर भी रस की अनुभूति नहीं हो सकती। प्रथम प्रकार के प्रभाव को श्रेष्ठता क्यों दी गई है? इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है यहाँ पाठक काव्य दृष्टि से जगत को देखता है, भावों में एक्य का अनुभव करता है, तभी वह सर्व सामान्य की भाव-भूमि पर पहुँच सकता है। भारतीय दृष्टि से काव्य का

यही सर्व श्रेष्ठ आदर्श है। आश्रय के साथ तादात्मय स्थापित करने तथा अवलम्बन के साथ साधारणीकरण के लिए अधिकतर ऐसे चित्रों की आवश्यकता होती है जो सहज में मनुष्य मात्र के भाव को अकर्षित कर सकें। काव्य में श्रृंगार रस की अधिकता का यही कारण है। श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य भावों में कुछ विशेषता की साधारणीकरण के लिए आवश्यकता रहती है। धारा का रूप रस की पूर्णता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। यही कारण है कि घंटों लोग कथा तथा आल्ह सुनने में लीन रहते हैं, इस स्थिति में सामान्य-भाव-भूमि के दृश्य दिखाई देते हैं। व्यक्ति के शील-निर्माण के लिए भावों का इस प्रकार परिष्कार अत्यन्त महत्व रखता है।

धारावाहिकता के जिस महत्व को आचार्य ने स्वीकार किया है उसे दृष्टि में रख वे मुक्तक कविता का विशलेशण करते हैं। धारावाहिकता न रहने के कारण मुक्तक काव्य का प्रभाव क्षणिक रहता है, उनका प्रभाव गहरा न होकर केवल मनबहलाव मात्र रहता है। शीतकाल में जब कविगण एक एक मुक्तक के लिए असंख्य धन प्राप्त करने लगे तब साहित्य उक्ति-वैचित्र्यताओं से भरने लगा, फारसी शायरी का प्रभाव भारत में भी बढ़ा। आचार्य का विचार है कि फारसी शायरी में सवेदना का आधिक्य रहने के कारण इसमें भाव पक्ष रहा, परन्तु भारत में ऊपरी आडम्बरों ने इस पक्ष को बहुत कुछ दबा कविता को केवल सूक्ति का रूप दे दिया।

काव्य में अलंङ्कार, लक्षण, और रीति की उपयुक्तता के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना अनिवार्य है कि इनका विधान काव्य चर्चा की सुगमता के लिए हुआ है। परन्तु इनको काव्य का सब कुछ समझ बैठना उपयुक्त नहीं। योरुप में जब इस प्रकार के प्रभाव ने जन्म लिया तब इसके विरोधी प्रभाववादियों के नाम से उठ खड़े हुए और उन्होंने कहा कि इन रीतियों की परम्परा में बँधी कविता सच्ची कविता नहीं, सच्ची कविता वही है जो मानव हृदय को प्रभावित कर सके। उन्होंने आलोचना का रूप अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के व्यक्त करना स्वीकार किया, केवल इतना

ही नहीं यदि विस्तृत रूप से परखा जाए तो निर्णयात्मक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आदि आलोचनाएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ हैं, जिसके द्वारा काव्य से बहुत कुछ ध्यान हट जाया करता है। आचार्य समालोचना के लिए व्यक्ति में विकृता तथा काव्यगत रुचि दोनों का पूर्ण रूप से होना स्वीकार करते हैं। तथा आलोचनाएँ इस उद्देश्य को ध्यान में रख चले कि वे काव्यानुभूति को एक हृदय से दूसरे हृदय तक ठीक ठीक पहुँच सकें।

भारतीय साहित्य-शास्त्र में लक्षण-ग्रंथों का निर्माण काव्य-चर्चा को सहज बनाने के लिए हुआ, यह बात व्यक्त की जा चुकी है, अब भारतीय साहित्यिक-वादों पर भी विचार कर लेना चाहिए। हमारे यहाँ रसवाद, अलङ्कारवाद, ध्वनिवाद, रीतिवाद आदि अनेक वादों को जन्म दिया गया। योरुप के आधुनिक अभिव्यंजनावाद के समान भारतीय-साहित्य में भी उक्ति-वैचित्र्य और अनूठेपन पर जोर दिया गया था, इसके कारण रसवादियों ने रस को तथा ध्वनिवादियों ने काव्य-वस्तु को व्यंगकार, यहाँ रस और वस्तु की व्यंजना आवश्यक है।

पाश्चात्य 'अभिव्यंजनावाद' अनुभूति पर ध्यान न देकर वाग्वैचित्र्य को लेकर चला, वे पुराने ध्वनिवादियों की तरह भाव व्यंजना की वस्तु व्यंजना दोनों में काव्यतत्व मानते हैं अनूठे ढंग से कही हुई वस्तु व्यंजना ही वे काव्य स्वीकार करते हैं। आचार्य अभिव्यंजनावाद को पुराने भारतीय 'वक्रोक्तिवाद' का नया रूप मानते हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ भारत में अनूठी बात कहने में व्यंजना का सहारा लिया गया वहाँ योरुप में लक्षण का अधिकतर प्रयोग किया जाता है।

काव्य में अनूठेपन का भी अपना स्थान है। काव्य का लक्ष्य रहता है कि संसार की वस्तुएँ और बातें मनुष्य के भावचक्र में आ सकें। हृदय इस प्रभाव के लिए अनेक रूप चाहता है। अतः अनूठापन कहीं तो भाव की व्यंजना में और कहीं, वस्तु या तथ्य में होता है। आचार्य एक को भाव पक्ष की ओर दूसरे का विभाव पक्ष का अनूठापन कहते हैं। परन्तु अनूठापन काव्य का सब कुछ नहीं है। उसे केवल अतिरिक्त

गुण माना जा सकता है, जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है। बिना अनूठापन लाए भी कविता होती है और सुन्दर होती है। अतः यदि यह कहा जाय कि काव्य में केवल चमत्कार देखने वाली वस्तु नहीं तो कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बिना भाव के केवल चमत्कार लिए कविता, कविता नहीं सूक्ति मात्र माना जा सकता है। इसलिए यह पूर्ण सत्य है कि काव्य के मूल में भाव ही रहते हैं।

अँग्रेजी तथा अधिकतर बंगला में अभिव्यंजनावाद के परिणाम-स्वरूप-विधानों का बहुत दुरुपयोग होने लगा। आचार्य का विचार है कि हिन्दी में जो 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' के नाम से कविताएँ लिखी जाती हैं, वे 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' लेकर चलने वाली कविताएँ नहीं, वरन् अभिव्यंजनावाद के बंगाली प्रभाव तथा अँग्रेजी लाक्षणिक पदावली का परिणाम हैं। 'छायावाद और 'रहस्यवाद' काव्य वस्तु के अन्तर्गत की वस्तु है, परन्तु जहाँ केवल व्यंजना शैली का वैचित्र्य हो उसे तो अभिव्यंजनावाद का ही प्रभाव समझना चाहिए। परिणाम यह हो रहा है कि काव्य बहुत कुछ असम्बन्धित शब्दों का विधान मात्र बन कर रह गया है।

विभिन्न देशों की प्रवृत्ति को पहचानने के लिए काव्य भाव और विभाव दो पक्षों में बाँटा जाता है। यदि भारतीय साहित्य पर दृष्टि रखी जाए तो यहाँ दोनों पक्षों पर समरूप से ध्यान रखा गया है। संसार की नाना वस्तुओं का वर्णन आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों से हुआ है। भाव व्यंजना के साथ विभाव व्यंजना पर भी पूरा पूरा ध्यान रखा गया है फारस की शायरी में भाव-पक्ष को प्रधानता दी गई और विभाव पक्ष का बहुत कम विधान हो पाया। भाव-पक्ष में रति भाव को ही अधिकतर अपनाया गया। भाव और विभाव का सम्बन्ध स्पष्ट न होने के कारण कभी कभी दृश्य रति भाव के बाधक रूप में वीभत्स का रूप उपस्थित करने लगे। आचार्य प्रेम भी इस वेदना को काव्य के लिए उपयुक्त नहीं समझते। शुक्ल जी काव्य में विभाव-पक्ष को प्रधान स्थान देते हैं। भाव के अनुसार संसार की वस्तुओं और व्यापारों का जो हृदय

में किसी भाव का संचार कर सकते हैं अवलम्बन का वर्णन मानना चाहिए। जो भाव संसार के मर्मर-कलों को पहिचान सकेगा। उसी को सर्व सामान्य के हृदय को पहचानने वाला कहा जा सकता है। कवि धर्म केवल अनुभति का वर्णन करना नहीं होता वरन् उन वस्तुओं को पाठक की कल्पना में जगाना अनिवार्य होता है, जिन्होंने वे अनुभूतियाँ उत्पन्न की हैं। जिससे स्वभावतः ही अनुभूतियाँ जागृत हो जाती हैं।

मानव की ज्ञानेन्द्रियाँ आरम्भ में भावों के लिए अवलम्बन उपस्थित करती हैं, तत्पश्चात् कल्पना उसकी योजना करती है। सभ्यता के विकास के साथ जैसे जैसे मानव का ज्ञान-क्षोभ-बुद्धि-व्यवसायात्मक और विचारात्मक हो गया वैसे ही, वैसे कवि का कार्य भी विस्तृत हो गया। क्योंकि अब उसे अनेक जटिल परिस्थितियों के बीच मर्मस्पर्शी का सजीव और मूर्त्त-चित्रण जो मानव किसी भाव का अलम्बन बन सके करना पड़ता है।

काव्य के सम्बन्ध में भाव और कल्पना अपना अपना विशेष स्थान रखते हैं। रसानुभूति की दृष्टि से पाठक में सहृदयता आवश्यक है और कवि के लिए कल्पना, परन्तु यहाँ कवि भावुकता को तुष्ट करने के लिए ही कल्पना का प्रयोग करता है। अतः कल्पना कवि के भावों को सहयोगिनी कही जा सकती है। जिसके द्वारा कवि अपनी अनुभूति दूसरों तक व्यक्त करता है। कवि भावुकता, कल्पना और भाषा के सहारे अपनी अनुभूति व्यंजित करता है।

आचार्य योरुप के उन साहित्यिक विचारों पर आते हैं जिसका प्रभाव भारत पर भी दिखाई देता है। एक प्रवाद है "कला का उद्देश्य कला ही है" जो कविता को जीवन से विल्कुल अलग कर रख देता है। यह विवाद सन् १८६६ में फ्रांस में चला, अँग्रेजी में इसका प्रतिपादन डाक्टर ब्रैडले ने किया। परन्तु इसका खंडन रिचडीन ने अपनी 'काव्य समीक्षा के सिद्धान्त' में कर दिया। आचार्य का विचार है कि यदि काव्यगत अनुशीलन तथा काव्य का जगत पर प्रभाव देखा जाए तो यह तथ्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि कविता और जीवन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

है। योरुप के उठने वाले वाद केवल विशेष विचारों की प्रतिक्रिया मात्र होते हैं। काव्य को पुरानी रूढ़ियों के स्थान पर स्वच्छन्दतावाद को जन्म मिला और काव्य अपनी सीमा का उल्लंघन करने लगा। तब सन् १८६६ ई० में 'कलाकार उद्देश्य कला' का सिद्धान्त पर नेसियन कहे जाने वाले लोगों द्वारा आया। इसके पीछे सन् १८८५ ई० में 'प्रतीकवादियों' ने फ्रांस में अपना समुदाय खड़ा किया जिसने अनूठे 'रहस्यवाद' और 'भावोन्मादमयी भक्ति' का आश्रय लिया। इस प्रवाह का प्रभाव भारतीय बंगला, गुजराती, मराठी तथा हिन्दी आदि भाषाओं पर पड़ा।

'प्रतीकवाद' सिद्धान्त रूप में आध्यात्मिक 'रहस्यवाद' को लेकर उठ खड़ा हुआ है, परन्तु आचार्य का विचार है कि प्रतीक रूपों का व्यवहार सदा कविता में होता आया है। काव्यगत प्रतीक सदा मन में उससे सम्बन्धित विशेष भावनाओं को जाग्रत कर दिया करते हैं। प्रतीक दो प्रकार के होते हैं—एक भावों को जगाते हैं दूसरे भावनाओं और विचारों को। 'कमल', 'चन्द्र', 'समुद्र', 'आकाश' आदि भारतीय जनता के परम्परागत प्रतीक हैं। विभिन्न देशों में अपनी अपनी संस्कृति के आधार पर प्रतीक भी परिवर्तित हुआ करते हैं। फारस में 'गुल' 'बुलबुल' भारत में 'चातक', योरुप में 'क्रूस' आदि अपना अलग महत्व रखते हैं। भारतीय साहित्य में यद्यपि प्रतीकों का उपयोग अलंकार-प्रणाली में हुआ, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि अलंकार और प्रतीक एक ही वस्तु हैं। अलंकार में जहाँ सादृश्य और साधर्म पर ध्यान रहता है वहाँ प्रतीक में भावना जाग्रत कराने की बात रहती है। यहाँ यह बात ध्यान रखना चाहिए कि सच्चे कवि सदा उपमान के रूप में जो वस्तु लाते हैं उसमें प्रतीक अवश्य रहता है। यदि यह प्रश्न किया जाए कि प्रतीक रूप में भावों की शक्ति कैसे विकसित हुई तो उसका उत्तर यही है कि वस्तु के आकर्षण, कुछ चिरपरिचित आरोप तथा कुछ वंशानुगत वासना के प्रभाव से हुआ है। परन्तु योरुप में चलने वाला 'प्रतीकवाद' जो 'परोक्षवाद' को लेकर चला उसका उत्तर अवश्य भिन्न होगा। आचार्य, डब्लू

बी० ईसट का उद्धरण देते हैं "हमारे मन का विस्तार घटता बढ़ता रहता है और कभी-कभी कई एक मन सञ्चरित होकर एक शक्ति का उद्घाटन करते हैं। हमारी स्मृति का विस्तार भी ऐसे ही घटता बढ़ता रहता है और उस महा-स्मृति का प्रकृति की स्मृति का, एक अंग है। इस महा मन और महा स्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार तांत्रिकों के विविध चक्रों या यंत्रों द्वारा देवताओं का यहाँ कवि की प्रतिभा का जाग्रत होना और सूफी का 'हाल में आना' बहुत कुछ साम्य रखता है। यहाँ प्रतीक अपना अलग विशेष महत्व रखते हैं।

इस आधार पर विचार करने से प्रतीत होता है कि काव्य अपने लक्ष्य को जगत से अलग कर देता है। प्रकृति के रूप केवल प्रतीक मात्र रहते हैं, कवि की दृष्टि उन रूपों पर न रह प्रतीक के पीछे रहने वाले अज्ञात शक्ति के प्रति रहती है। इस रूप में काव्य में अव्यक्त का सम्बन्ध विशेष रूप से आने लगा। आचार्य यहाँ यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि भाव की व्यंजना ज्ञान को लेकर होती है, मनोविज्ञान के आधार पर भी ज्ञानात्मक अवयव का होना अति आवश्यक है। ईश्वर के रूप को न देख, जो भक्ति होती है वह उसके रूप को ज्ञेय बना कर ही होती है। अतः भावों का आधार अव्यक्त नहीं हो सकता।

इन्हीं भावों के आधार पर अभिव्यक्ति को काव्य दृष्टि के भीतर मानने वाले विशुद्ध कवि और साम्प्रदायिक कवियों का अन्तर देखा जा सकता है। एक जिस पर भाव टिकता है उसे स्वीकार करता है, दूसरा उसे स्वीकार न कर उसके पीछे की वस्तु आंकता है। पूर्वराग का उदाहरण दे आचार्य इस बात को स्पष्ट करते हैं, उसमें जहाँ चित्र पर राग न होकर जिसका चित्र होता है उस पर राग किया जाता है। वहाँ रहस्यवादी गोचर पर ध्यान न देकर अगोचर, अव्यक्त से भी अभिलाषा करना है जो सिद्धान्त ही गलत है। जिस प्रकार पूर्वराग में आलम्बन

चिन्तामणि द्वितीय भाग पृ० १२२

चित्र आदि के कारण अज्ञात नहीं रहता उसी प्रकार जिसे रहस्यवादी अज्ञाता कहता है वह भी किसी न किसी रूप में ज्ञात हो रहता है। परन्तु रहस्यवादी अपने वाद के कारण उसे स्वीकार नहीं करता और असीम, अव्यक्त का आडम्बर खड़ा कर देता है।

रहस्यवादी प्रकृति के क्षोभों से कुछ रूप लेकर उनकी विलक्षण तथा दूरारूढ़ योजना कल्पना के भीतर करते हैं। इसका कारण वे 'अज्ञात के औत्सुक्य' बताते हैं, इसके साथ ही वे रूपयोजना में अगोचर और अव्यक्त सत्ता का साक्षात्कार करते हैं। अतः यदि कल्पना में आया रूप ही बिम्ब या पारमार्थिक वस्तु है तब कल्पनात्मक रूप ही आलम्बन हुआ। कल्पनात्मक रूपों के इस आलम्बनत्व की प्रतिष्ठा लेकर साम्प्रदायिक रहस्यवाद आया। रहस्यवादी कवि 'ब्लेक' ने इसी आधार पर दृश्य जगत की रूप योजना के स्थान पर कल्पना जगत की रूप योजना को आलम्बन स्वीकार किया। जिसने योरुप वालों की धार्मिक रुकावटों को दूर कर दिया। यह 'कल्पनावाद' सूफियों के प्रभाव से आया। ब्लेक और बर्कले ने इस प्रभाव के कारण हृदय जगत से भिन्न 'परम कल्पना' का प्रतिपादन किया और मनुष्य की कल्पना को उस कल्पना का एक अंग माना जो प्रकृति के रूपों की छाया है। एक नए रूप में यह कल्पनावाद, प्रतिष्ठापित हुआ।

इस आधार पर साहित्य-पक्ष की विवेचना करने से प्रतीत होता है। कि रचना के समय कवि के हृदय में कल्पना रूप में आलम्बन आते हैं। यदि यही काल्पनिक रूप वस्तुओं का सार माना जाए तब अभिलाष का कोई महत्व नहीं रहता। प्रकृति के क्षेत्र में जिसकी छाया देखी जाती है, उसे कल्पना में किसी न किसी तरह देख लिया जाता है। अतः यहाँ कवि के लिए वियोग पक्ष की व्यंजना का कोई स्थान नहीं रहता। रहा संयोग पक्ष में तो यह पहले व्यक्त किया जा चुका है कि कल्पना में आए रूप वाह्य प्रकृति के ही हुआ करते हैं, परन्तु रहस्यवादी कवि सदा यही व्यक्त करता है कि उसका ध्यान इन रूपों पर न रह कर अव्यक्त और अगोचर के प्रति हुआ करते हैं। इस तथ्य के प्रतिपादन में वह अपनी भाषा में भी अस्वाभाविकता और अलौकिकता ला देता है। अतः इनके

द्वारा कला-क्षेत्र में हृदय के सीधे गोचर सम्बन्ध पर ध्यान न देकर व्यर्थ का आडम्बर खड़ा किया जाने लगा।

यह पहले व्यक्त किया जा चुका है कि पाश्चात्य रहस्यवाद सूफियों के प्रभाव की देन थी, जिसने पैगम्बरी मत को बहुत सी सुविधाएँ प्रदान कर दीं। इन कविताओं में भावों में सचाई का अभाव और व्यंजना में कृत्रिमता अधिक रहती है। भावों में अपनापन न होने के कारण तादात्मय नहीं हो सकता परन्तु अनुभूति न होने पर भी वाद रूप में सब कुछ स्वीकार कर लिया जाता है। फारस, अरब, तथा योरुप आदि पैगम्बरी मतों ने अपने हृदय को तुष्ट करने के लिए अद्वैतवाद, सर्ववाद और प्रतिबिम्ववाद को मिला कर एक भूमि तैयार की, उन्होंने प्रकृति के अनेक रूपों के साथ परमात्मा के कर्त्तव्य सम्बन्ध के स्थान पर उसके स्वरूप सम्बन्ध की स्थापना की। फारस शायरी में वाह्य जगत की वस्तुओं का प्रतीक 'बुत' रूप में माना गया, उन्होंने अपना प्रेम बुत के पीछे छिपे परमात्मा के प्रति बताया। परन्तु योरुप वालों ने फारस के इन गिने चुने बुतों के स्थान पर अनेक मूर्त्त विधानों की योजना की।

यदि भारतीय भक्ति-काव्य पर विचार किया जाए तो वह कभी भी रहस्यवाद के आधार को लेकर चलता न दिखाई देगा। यहाँ हृदय सीधे अपने भावों को भगवान को व्यक्त किया करता है। निर्गुण-भक्ति', जो अरब और फारस में रहस्यवाद से आई वह विदेशी बात कुछ परिवर्तनों के साथ देशी बन गई। अंग्रेजी प्रभाव से बंगाल में ब्रह्म-समाजों की स्थापना हुई, जिसकी विनय और प्रार्थनाओं में रहस्यवाद का सहारा लिया गया। परन्तु भारतीय भक्तिकाव्य में 'रहस्य' तथा 'गुह्यय' को कोई स्थान नहीं, यद्यपि वेदान्त प्रतिविम्ववाद का निरूपण हो चुका था, लेकिन भक्तिगण स्वभाविक भाव-पद्धति को लेकर ही चला। महाभारत काल से भक्तिमार्ग का आरम्भ हुआ। नर में नारायण का जो रूप अंकित किया गया उसमें आगे चल कर रहस्य का कोई स्थान नहीं रहा। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को चराचर प्रकृति के भीतर अपने व्यक्त और गोचर रूप की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन किया जिसने भक्ति की धारा

को पूर्ण रूप से प्रकाशवाद का रूप दे दिया। अर्जुन ने जिस रूप के दर्शन किए उसने स्पष्ट कर दिया कि सारा बाह्य जगत उसी का स्वरूप है, जो सत्य रूप है, आनन्द रूप है, जो मानव की रक्षा और रंजन में लगा, हृदय उसी की उपासना करने को प्रवृत्त हुआ। शील, शक्ति और सौंदर्य के रूप में राम तथा कृष्ण के व्यक्त और प्रत्यक्ष रूप को लेकर भारतीय भक्ति काव्य चला, ब्रह्म की अव्यक्त सत्ता पर उसका ध्यान नहीं गया। राम और कृष्ण के रूपों से स्पष्ट है कि उन्होंने इस लोक के भीतर अपने गुणों के आधार पर संसार को मुग्ध कर रास्ता दिखाया। वे पैगम्बरी मतों वाले रहस्य का उद्घाटन करते नहीं दिखाई देते हैं। यह पहले व्यक्त किया जा चुका है कि काव्य में जो रूप उपस्थित की जाती है, वह प्रकृति के रूपों को लेकर ही हुआ करती है। भाव, संसार के क्षेत्र से ही संचरित होते हैं। भारतीय भक्तिकाव्य में राम और कृष्ण की जो प्रेमानुभूति होती है उसमें कल्पनात्मक मूर्ति ही सामने आती है पर उसमें गोचरमय का दर्शन, स्पर्श आदि की वासना बनी रहती है। जिससे स्पष्ट है कि भारतीय भक्तिकाव्य कोई रहस्य को लेकर नहीं चलकर वह अनुभूति की वास्तविक और स्वाभाविक पद्धति लेकर चलता है।

योरुप के साम्प्रदायिक रहस्यवाद के अतिरिक्त कुछ कवियों में स्वाभाविक रहस्य-भावना कहीं-कहीं बहुत सुन्दर दिखाई देती हैं। वर्डसवर्थ और शेली इसी श्रेणी में आते हैं। ये कवि 'वादी' नहीं। स्वाभाविक दृश्यों के बीच ये कवि सच्ची अनुभूति का प्रस्फुटन करते हैं। वर्डसवर्थ की कविता का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध है, सर्ववाद और परोक्ष जगत का संकेत भी मिल जाया करता है, लेकिन सब इसी प्रकृति के बीच। कालरिज भी जीवन को लेकर चलता है, जिस अज्ञात रहस्य को वह स्वीकार करता है, जिसका विधान मानव के जीवन को परिवर्तित किया करता है। परन्तु यह वाद नहीं स्वाभाविक रहस्य-भावना है। वर्डसवर्थ की कविताएँ 'एक पथिक को शिक्षा' तथा 'बाल्यावस्था की स्मृति द्वारा अमरत्व का संकेत' में स्वाभाविक रहस्य-भावना है जो कवि अपने अभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्राप्त कर लेता है। अतः हिन्दी के कुछ लेख

'रहस्यवाद' में जो वर्डसवर्थ का नाम देने लगे हैं यह उपयुक्त नहीं। शैली प्रकृति के अद्भुत और भव्य रूपों पर अधिक दृष्टि रखते थे, इसीलिए उनमें कल्पना अधिक मिलती है 'अलास्टर' और 'इस्लाम का विप्लव' उनके संश्लिष्ट और शृङ्खलाबद्ध चित्रों से भरा पड़ा है। 'सौन्दर्य-बुद्धि की स्मृति' और 'एपिसिडियन' में संसार की सौन्दर्य-भावना का विश्लेषण किया गया है कहीं भी रहस्य भावना नहीं है। 'कवि-स्वप्न' में अवश्य रहस्यवाद का आभास मिल जाता है, परन्तु उसी से उन्हें रहस्यवादी समझ लेना उपयुक्त नहीं। कीट्स प्राचीन यूनानी काव्य का आदर्श लेकर चले हैं, उस आदर्श को नए रूप में प्रतिपादित किया है। संभवतः रहस्यवाद में उनका नाम ईटस के धोखे में ले लिया जाता है। ब्राउनिंग में विचारों की इतनी सघनता पाई जाती है कि पाठक कहीं-कहीं उन्हें समझ नहीं पाता है उनका लक्ष्य बहुत ऊँचा था वे गूढ़ विचारों के साथ हृदय का सामंजस्य चाहते थे, इसी कारण उन्हें रहस्यवादी कह दिया जाता है परन्तु दोनों में मूल रूप से अन्तर है एक विचारों के आधिक्य के कारण स्पष्ट नहीं होता और दूसरे में विचारों का अभाव रहता है इस कारण उसके शब्द अस्पष्ट प्रतीत होते हैं।

स्वभाविक और साम्प्रदायिक रहस्यवाद का अन्तर काव्य-वस्तु और काव्य विधान पर निर्भर रहता है। स्वभाविक रहस्यभावना वाले कवि प्रकृति के किसी खंड की संश्लिष्ट और शृंखलाबद्ध योजना प्रस्तुत किया करते हैं और सामुदायी कुछ सीमित वस्तुओं की केवल अलग-अलग झलक दिखा दिया करते हैं। इसी कारण प्रथम में चरित-काव्य और प्रबन्ध काव्य के रूप मिला करते हैं लेकिन साम्प्रदायिक रहस्यवाद केवल मुक्तकों तक अपनी रचना सीमित रखते हैं।

साम्प्रदायिक रहस्यवाद के सम्बन्ध में यह व्यक्त किया जा चुका है कि योरुप में यह प्रभाव सूफियों से पाया। इसके पूर्व योरुप में पाए जाने वाली 'रहस्यभावना' 'ईश्वरवाद' के रूप में थी जहाँ व्यक्ति ईश्वर की दया का आभास रहस्यभावना के आधार पर संसार के रूपों में देखता

था। सूफियों को रहस्यभावना में सर्ववाद और प्रतिबिम्बवाद को एकीकरण कर दिया गया। प्रतिबिम्बवाद वेदान्त में सर्ववाद की एक रूप है। सर्ववाद का तात्पर्य है कि जो कुछ हमारे सामने है सब ब्रह्म है और प्रतिबिम्बवाद का तात्पर्य है कि जो कुछ है वह ब्रह्म नहीं उसकी छाया है। सूफियों ने आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में सर्ववाद ग्रहण किया और जगत तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद, सिद्धान्त पक्ष में इसको लेकर कल्पनावाद आरम्भ हुआ लेकिन उन्होंने उसे साधना-पक्ष में ही अपनाया, काव्य-क्षेत्र में नहीं आने दिया। परन्तु योरुपीय कवियों ने इस आधार पर एक नया रूप खड़ा कर दिया। सूफी कवि वाह्य जगत के बीच अपने प्रिय का आभास प्राप्त कर उसकी कल्पना में लीन होने लगे। परन्तु पाश्चात्य रहस्यवादी इनके विपरीत वाह्य जगत से दूर अपनी आन्तरिक कल्पनाओं की अभिव्यक्ति करने लगे। इसी कारण सूफी कविता हृदय का आकर्षण बन सकी जो पाश्चात्य रहस्यवाद में नहीं पाई जाती। जिसका एक कारण और भी है वह है अभिव्यंजनावाद का प्रभाव। जिसने 'कला का उद्देश्य कला' के सिद्धान्त पर प्रतिपादन किया। आचार्य लिखते हैं "उक्त रहस्यवाद तीनों वादों के मेल से—ब्लेक द्वारा अंगीकृत 'कल्पनावाद' के साथ 'अभिव्यंजनावाद' और 'कला का उद्देश्य कला' वाद के मेल से संघटित है।"

कल्पनावाद का विश्लेषण उपर्युक्त पंक्तियों में किया जा चुका है अतः केवल यह दो वाद रह जाते हैं। जिनका प्रभाव भारतीय काव्य साहित्य पर देखना आवश्यक है। अभिव्यंजनावाद के मूल में वाग्वैचित्र्य रहता है। योरुपीय भाषाओं में इसका विधान लाक्षणिक चपलता के बल पर किया जाता है। परन्तु एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि लाक्षणिक प्रयोग प्रत्येक भाषा में अपनी-अपनी संस्कृति के आधार पर हुआ करते हैं। अतः जब बंगला के प्रभाव से हिन्दी में भी उसका उसी रूप शब्द-प्रति-शब्द प्रयोग किया जाने लगा तो एक अजीब सा रूप प्रस्तुत हो गया। अभिव्यंजनावाद का यही प्रभाव अपनी सीमा का उलंघन कर छायावाद के रूप में भाषा जहाँ अप्रस्तुत वस्तु व्यापारों के विधान में

असंगत भावनाओं और विचारों की योजना होने लगी जिसमें एकान्विति और सम्बन्ध का कोई स्थान ही नहीं रहा। साथ ही इस वाद ने लय को अपना छन्द बन्धन त्याग दिए। यह प्रभाव अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन की सन् १८५५ में लिखी 'घास के पत्ते' नामक कविता से आया। कविता के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि छन्द और लय दोनों ही आवश्यक हैं। छन्द लय के विभिन्न ढाँचों का योग है। जिसके द्वारा श्रोता भी पाठक का उस निश्चित रूप के कारण साथ देता है। कविता में छन्दों के साथ एक विशेष माधुर्य आ जाता है। जिसके बिना नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता का अभाव ही बना रह जाता है। अतः लय और छन्द दोनों का ध्यान कविता के प्रभाव को डालने के लिए उपयुक्त समझना चाहिए।

छायावाद की कुछ रचनाएँ जिसमें अभिव्यंजनावाद का अधिक प्रभाव दिखाई देता है, उसमें कहीं-कहीं लाक्षणिक चमत्कार बहुत सुन्दर पाए जाते हैं। इन रचनाओं में भावनाओं का संचालन, मूर्तिमत्ता का विधान तथा व्यंजना पूर्णता पर मिलती है, ऐसे कवियों को साहित्य सेवा करने के लिए 'वाद' का प्रभाव छोड़ स्वभाविक काव्य-भूमि पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर लेनी चाहिए। वे विदेशी भाषाओं पर केवल अपना ध्यान न रख अपनी भाषा की शक्ति का अवलोकन करें और लाक्षणिक प्रयोग करने में भावों की उपयुक्तता का ध्यान रखें, तभी यह श्रेष्ठ कवि बन सकते हैं। छायावादी कविताओं में एक रूप और मिलता है जो अपनी रहस्य-भावना में योरुप से प्रभावित न होकर सूफियों से प्रभावित है। इन रचनाओं में भावुकता अवश्य रहती है, परन्तु असीम वेदना कुछ अत्युक्ति-पूर्ण लगती है। यद्यपि रहस्य भावना भारतीय काव्य का रूप नहीं फिर भी यह बहुत प्राचीन है जो निर्गुणसन्तों की वाणियों से चला आरहा है, उसी का रूप फिर से दिखाई देने लगा है। परन्तु यह सब विदेशी रूप है। साम्प्रदायिक रहस्यभावना से तो स्वाभाविक रहस्यभावना वाली

चिन्तामणि द्वितीय भाग पृ० १५५।

कविताओं में कहीं अधिक सुन्दर व्यंजना हुआ करती है। राय कृष्णदास जी की 'साधना' नामक गद्यकाव्य इसका उपयुक्त उदाहरण है उसमें न कोई साम्प्रदायिकता है, न पाश्चात्य भाषा की, न पाश्चात्य प्रतीक।

अतः यह पूर्ण स्पष्ट है कि वेदान्त का प्रतिबिम्ववाद सूफियों के प्रभाव से योरुप में गया, जो प्रतीकवाद का नया रूप ले बंगला साहित्य के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में 'छायावाद' के नाम से पुकारा जाने लगा। यह काव्य में रहस्यवाद के लिए अपनाया हुआ दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित करता है। इस इतिहास का स्पष्ट न समझने के कारण मनमाने अन्तर समझाए जाते हैं। काव्य में यदि रहस्यभावना की धारा चलाई जाए तो वह स्वाभाविक ही रहनी चाहिए, वाद के रूप में उसका प्रयोग नहीं हो। योरुप के साहित्यिक वादों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वे अधिकतर किसी न किसी तथ्य को प्रतिक्रिया हुआ करते हैं, अतः उनकी अन्धाधुन्ध नकल करना व्यर्थ है। हिन्दी साहित्यिज्ञ यह अच्छी तरह जानते हैं कि पुरानी कविता में व्यंजना और चमत्कार के लिए अलंकारों का प्रयोग किया जाता था। यह प्रयोग जब सीमा का उल्लंघन करने लगा, तब वह कविता के लिए बोझ बन गया और कविता के भाव उन बन्धनों के बीच सिसकते प्रतीत होने लगे। उसी प्रकार आज छायावादी कविताओं में लाक्षणिक प्रयोगों की भरमार होने लगी है लेकिन उसका प्रयोग भी भाषा की प्रकृति तथा स्वभाविकता को ध्यान में रख सामंजस्य बुद्धि द्वारा करना चाहिए।

'रहस्यवाद' और 'छायावाद' के नाम पर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा घोर अज्ञान फैलाया जा रहा है, उसे युग की कविता, योरुप की कविता और नवीनता का संदेश लाने वाली कविता समझा जा रहा है। परन्तु अभी स्पष्ट किया जा चुका है कि यह समस्त योरुप की कविता नहीं और न युग की कविता है, किस प्रकार साम्प्रदायिकता के प्रभाव के कारण इसका जन्म हुआ यह दिखाया जा चुका है। रही नवीन जाग्रति का चिह्न तो देश की जाग्रति का चिह्न क्या असम्बन्धित शब्दों द्वारा प्रगट हो सकता है। विदेशी शब्दावली का प्रयोग हिन्दी साहित्य के लिए कर

देना उसके विकास के लिए बाधक है। यह समझना अति आवश्यक है कि प्रत्येक देश के साहित्य के विकास का एक स्वतन्त्र रूप होता है, उसके अपनेपन को पहिचान कर हो यदि दूसरे साहित्य का अवलोकन किया जाए तो साहित्य का विकास हो सकता है। दूसरे साहित्य द्वारा अपने साहित्य को जाँचना उसकी गति को रोक देना है। यह समझते हुए विदेशी वस्तुओं को अपनाना चाहिए।

भारतीय साहित्य में जो 'नवीनता' के नाम से प्रचलित किया जा रहा है, वह सब पाश्चात्य देशों के कल के 'वाद' हैं। उनकी नकल करने में क्या नवीनता? इससे तो अपनी शक्ति का ह्रास प्रकट होता है। योरुप की भाषाएँ फारसी भी संस्कृत का अनुवाद कर रही हैं उन्होंने उसे अपने रंग में रंग लिया है, यदि देखी जाए तो 'प्रगति' तो यह है। विकास के लिए यह अवश्य है कि मनुष्य अपने चारों ओर दृष्टि रखे, उसका विश्लेषण करे और सामंजस्य बुद्धि के आधार पर उसका प्रयोग करने का प्रयत्न करे। यह बात संकुचित दृष्टि का प्रतिपादन नहीं करती लेकिन यदि सामंजस्य का ध्यान रहेगा तो व्यर्थ की अन्धाधुन्धी जो साहित्य में फैल जाया करती है, उससे अवश्य साहित्य बच कर प्रगति कर सकेगा।

शुक्ल जी की दृष्टि काव्य के सम्बन्ध में सदा भौतिकवादी रही है, वे काव्य को जगत और जीवन से दूर कहीं नहीं देखना चाहते थे। आपके मतानुसार भारतीय काव्य दृष्टि सदा व्यक्त तक रही और जो असीम अनन्त की भावनाएँ आईं जिनके नाम से काव्य में रहस्यवाद आने लगा वह विदेशी प्रभाव के कारण। स्वभाविक रहस्यवाद का वे अवश्य प्रतिपादन करते हैं, परन्तु साम्प्रदायिक रहस्यवाद उनकी दृष्टि से काव्य के लिए उपयुक्त नहीं। मनोविज्ञान के आधार पर भी वे इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं। साम्प्रदायिक रहस्यवाद योरुप में सूफियों का प्रभाव है, जिसने योरुप के कई 'वादों' को अपने साथ सम्मिलित कर बंगला को प्रभावित किया और वहीं से वह हिन्दी साहित्य में आया। यहाँ अव्यक्त के प्रति 'जिज्ञासा' को वे अवश्य स्वीकार करते हैं परन्तु 'लालसा' की

बात उन्हें नहीं जँचती। छायावाद का प्रतिपादन यहाँ पर उन्होंने रहस्य-वाद के अभेद के रूप में लिया है।

इस लेख के आधार पर यद्यपि आचार्य के रहस्यवाद से सम्बन्धित संकुचित विचारों का प्रतिपादन स्पष्ट झलकता है। परन्तु उनकी साहित्यिक विचार धारा को सामने रखा जाए तो यह स्पष्ट ही है कि वे उन विचारों के प्रभाव के कारण काव्य में रहस्यभावना का पूरी तरह से जाँच नहीं पाए हैं। अभिव्यंजनावाद से प्रभावित छायावाद की लाक्षणिक पदावली तथा प्रतीकों की अवश्य उन्होंने सराहना की परन्तु उसको भी वे अपनी भाषा की शक्ति और उपयुक्तता के अनुसार ही प्रयोग में लाने के पक्षपाती हैं।

———

अध्याय १०

रस सम्बन्धी विचार

आचार्य शुक्ल ने भारतीय काव्य के प्रमुख अंग रस पर अपने मौलिक विचार प्रकट किए हैं। रसानुभूति में सहायक अवयवों—आश्रय, आलंबन, अनुभाव, उद्दीपन आदि का आधार तो प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रूप में ही लिया गया है, परन्तु आपने उसके प्रसार और प्रक्रिया के सम्बन्ध में अपने नवीन विचारों को प्रवेश दिया है। रसानुभूति आपकी दृष्टि से काव्य का प्रमुख लक्ष्य है, काव्य से सम्बन्धित उनके विचारों पर दृष्टिपात किया जाए तो प्रतीत होगा कि काव्य को भाव-लोक का क्षेत्र कह उसे ज्ञानक्षेत्र के समकक्ष रखते हैं। कविता वह साधान है जो मानव के हृदय को मुक्तावस्था प्रदान कर शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करा देती है। भावक्षेत्र के साथ साथ ज्ञानक्षेत्र को रख यह निरूपित किया गया है कि जिस प्रकार ज्ञान का चरम लक्ष्य, ज्ञाता और ज्ञेय की एकता मानी जाती है उसी प्रकार काव्य का चरम लक्ष्य आश्रय और अलंवन की एकता स्वीकृत किया गया है। काव्य से सम्बन्धित उपयुक्त विचारों पर ध्यान रख कहा जा सकता है कि आचार्य ने काव्य का लक्ष्य बहुत उच्च स्थिर किया। एक रूप से वे काव्य और दर्शन को एक ही मानते थे तथा रसानुभूति पर सदा उनकी दृष्टि रही थी।

काव्य के द्वारा मानव सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है जिसका सम्भव होना इसी कारण होता है कि मानव के हृदय से अनेक प्रकार के भाव रहते हैं। यह भाव आदि काल से सष्टि के वाह्य रूप व्यापारों के साथ वासना जन्य रूप में तादात्म्य रखते चले आए हैं। इसी

कारण जब इन रूप व्यापारों को आलम्बन रूप में काव्य में चित्रित किया जाता है, तब उस वंश परम्परागत वासना के कारण मानव का हृदय उसके साथ तादात्म्यता का अनुभव करता है और कुछ समय के लिए सब कुछ भूल उसी में लीन हो जाया करता है। इसी कारण रस की पूर्ण परिपक्वता के लिए काव्य के अन्तर्गत परिचित आलंवनों का आना अनिवार्य कहा गया है।

भरत मुनि के रस निष्पत्ति से सम्बन्धित 'विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः' वाले वाक्य में तीन शब्दों के योग में प्रथम दो को प्रधानता दी है। विभाव में आश्रय तथा आलंबन और उनकी चेष्टाएं उद्दीपन आते हैं तथा अनुभाव में भाव के आश्रय की चेष्टाएं आती हैं। रसानुभूति के लिए कवि आलंबन और उद्दीपन तथा आश्रय और अनुभाव का विधान करता है। आचार्य का विचार है कि विभाव का रूप विधान करने के लिए उसे कल्पना की आवश्यकता होती है, क्योंकि इसके अंगों को प्रस्तुत करने के लिए उसे अपने अन्तर की कल्पना से ही सहायता लेनी होती है। इसी प्रकार अनुभाव की व्यंजना चाहे वह रूप व्यापार विधान हो चाहे वाणी-विधान हो कवि अपनी कल्पना की सहायता से कार्य करता है। रसानुभूति के लिए केवल कल्पना ही आपेक्षित नहीं होती। भाव और ज्ञान दोनों का रहना भी अति आवश्यक है। कारण यह है कि रस के लिए आलंबन जो इस क्षेत्र में प्रमुख रहता है वह ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है, उसके पश्चात आलंबन के आधार पर भावनाएँ रसात्मक विधान किया करती हैं। अतः इस तथ्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि रसात्मक आलंबन के विधान के लिए पहले ज्ञानेन्द्रियाँ प्रवृत होती हैं तब भावनाएँ अपना कार्य करती हैं। रसानुभूति में विभाव पक्ष की प्रमुखता के साथ साथ ज्ञान और कल्पना की महत्ता स्पष्ट ही है। अब प्रमुख प्रश्न यह है कि कवि के द्वारा किस प्रकार का आलंबन किया जाए जिससे पूर्ण रसानुभूति हो सके। कविता के सम्बन्ध में आचार्य के विचारों को स्पष्ट कर यह कहा जा चुका है कि वे काव्य का लक्ष्य बिम्ब ग्रहण मानते हैं। [illegible] जाता

है तब विशेष वस्तु अथवा व्यक्ति का होता है, जाति मात्र के लिए यहाँ स्थान नहीं रहता। कवि इसी विम्ब-ग्रहण वाली क्रिया के अनुसार आलम्बन रूप में भी विशेष का चित्र प्रस्तुत करता है। कुछ काव्य भाव मात्र का चित्रण करते हैं जैसे प्रगीत मुक्तक काव्य इनमें विभाव चित्रण बहुत कम या न होने के कारण आचार्य का मत है कि पाठक या श्रोता पढ़ते और सुनते समय आलबन का आरोप स्वयं करता है। परन्तु यह भी व्यक्ति-रूप में ही होता है। अतः शुक्ल जी के मतानुसार रस के अवयवों में आलंबन का विशेष महत्व है, आप केवल आलंबन के वर्णन द्वारा भी रसानुभूति होना स्वीकार करते हैं। आपका कथन है कि—"मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।"

रस की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भरत मुनि का सूत्र वाक्य पहले प्रस्तुत किया जा चुका है, परन्तु उस सूत्र के अस्पष्ट रहने के कारण अन्य आचार्यों ने विशद रूप से इस प्रक्रिया की व्याख्या की है। इनमें भट्ट लोल्लट का मत 'उत्पत्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ जिसके विधान में बताया गया कि रस की स्थिति अनुकार्य पात्र में हुआ करती है। दर्शक अभिनेता को अनुकार्य के रूप में ग्रहण करता है इस प्रकार से अनुकार्य के भावों की 'उत्पत्ति' अभिनेता में हो जाया करती है। दर्शक इस स्थिति में चमत्कार का अनुभव करता है। 'उत्पत्तिवाद' के आधार पर रस स्थिति अभिनेता में ही मानी गई है, दर्शक में चमत्कार की बात पैदा होना कह यह अवश्य स्वीकार किया गया है कि दर्शक का हृदय उससे प्रभावित होता है।

आचार्य शंकुक ने 'अनुमितिवाद' का मत प्रतिपादित किया जिसमें कहा गया कि रस की स्थिति अनुकार्य में ही होती है, परन्तु अभिनेता द्वारा अनुकरण से रस की उत्पत्ति नहीं होती लेकिन अनुमान के कारण दर्शक अभिनेता के अनुकार्य मान आनन्दित हुआ करता है। भट्ट लोल्लट तथा आचार्य शंकुक के विचार में बहुत कम अन्तर है दोनों ही रस की स्थिति अनुकार्य में स्वीकार करते हैं। यदि भेद देखा जाए तो केवल

यही है कि शंकुक रस निष्पति के सिद्धान्त के अधिक निकट पहुँचते प्रतीत होते हैं, अनुमितिवाद द्वारा दर्शक का पक्ष अधिक पुष्ट होने लगता है।

रस निष्पत्ति के सिद्धान्त की स्पष्ट विवेचन भट्टनायक तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य द्वारा हुई जिन्होंने प्रतिपादित किया कि रस की स्थिति अनुकार्य में न होकर दर्शक अथवा पाठक में हुआ करती है। रसानुभूति की प्रक्रिया के लिए भट्ट नायक ने तीन वृत्तियाँ स्वीकार की हैं, जो हैं— अभिधा, भोगक और भोग। अभिनव गुप्तपादाचार्य ने केवल पहली वृति को महत्व दिया है तथा अन्य दोनों का निषेध किया है। इन तीनों वृत्तियों के योग द्वारा दर्शक अथवा पाठक में रस निष्पत्ति का विधान हुआ करता है। भट्ट नायक का मत 'मुक्तिवाद' के नाम से तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य का मत 'व्यक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'मुक्तिवाद' में अभिधा की सहायता से काव्य के अन्तर्गत ऐसी वृत्ति की स्थापना होती है जो पाठक या दर्शक के लिए भोग करने योग्य बन जाती है। 'व्यक्तिवाद' के द्वारा काव्य अपनी शक्ति द्वारा पाठक या दर्शक में वासना-रूप से स्थित भावों को जगा कर उनकी अभिव्यक्ति करता है जिससे वे इसका अनुभव करते हैं।

आचार्य शुक्ल रस निष्पत्ति की प्रक्रिया भट्ट नायक के समान होना बहुत कुछ स्वीकार करते हैं। यद्यपि आपने भट्ट नायक की वृत्तियों का प्रतिपादन नहीं किया है परन्तु काव्य-कला के सिद्धान्त भट्ट नायक के अनुसार ही माने गए हैं। आचार्य का विचार है कि पाठक या दर्शक का हृदय भावात्मक होता है और काव्य द्वारा उसकी भावनाएँ जाग्रत हो उठती हैं। भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्तपादाचार्य दोनों के विचारों में यहाँ आचार्य सहमत होते प्रतीत होते हैं। 'मुक्तिवाद' के अनुसार भोग वृत्ति का जगना और अभिव्यक्तिवाद में वासना का जगना मूल रूप से एक ही है। एक में काव्य द्वारा वासना अभिव्यक्त होती है और दूसरे में भोग वृत्ति जगती है। शुक्ल जी का मत भी इसी बात को पुष्ट करता है।

रसानुभूति के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य का प्राचीन साहित्याचार्यों से मतभेद है। रसानुभूति को प्राचीन साहित्याचार्यों ने 'ब्रह्मानंद सहोदर' तथा 'लोकोत्तर' आदि नाम दिए हैं। आप रसानुभूति के जीवन के अन्तर्गत की अनुभूति मानते हैं। यह जो विशेष नाम प्राचीन आचार्यों द्वारा दिए गए हैं वे केवल काव्यानुभूति के गौरव के लिए दिए गए हैं। रसानुभूति को जीवन की अनुभूति कहने के साथ-साथ आपका विचार है—"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।†" अतः स्पष्ट है कि काव्यानुभूति को आप जीवन की अनुभूति मानते हुए भी उसमें एक विशिष्टता स्वीकार करते हैं। एक स्थान पर आपने लिखा है कि "मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य भूमि है।" अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय जो पाँच कोश माने गए हैं उनमें से पंचज्ञानेन्द्रिय और मन को मनोमय कोश कहते हैं, आचार्य के मतानुसार रस की अनुभूति मनोमय कोश में ही हो जाया करती है। प्राचीन आचार्य आनन्दमय कोश में रस की स्थिति मानते हैं और यह कोश सत्व गुण से पूर्ण परमात्मा का आवरण युक्त रूप है इस कारण यहाँ प्राप्त होने वाले आनन्द को 'ब्रह्मानंद' कहा गया। परन्तु आचार्य आनन्द कोश में रसानुभूति का होना न कह मनोकोश में ही स्वीकार कर लेते हैं और उसे 'प्रत्यक्ष' तथा वास्तविक जीवन की अनुभूति कहते हैं।"

रसानुभूति को जीवन की अनुभूति स्वीकार कर यदि उसके स्वरूप के सम्बन्ध में विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि आचार्य ने रसानुभूति तथा सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उसमें बहुत समानता है। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत जो रसानुभूति है वही पाश्चात्य साहित्य में कुछ प्रभाव में अन्तर रख सौंदर्यानुभूति मानी गई है। आचार्य ने इस से सम्बन्धित तीन बातें कही हैं, वे रस-दशा को हृदय की मुक्तावस्था कहते हैं जो मानव को उसके अपने पराए के भेद भाव से दूर

† चिन्तामणि पृ० ३४४।

कर देता है। इस स्थिति में मानव अनुभूति मात्र रह जाता है और वह काव्य के भाव में लीन हो जाता है। दूसरी बात कही गई है व्यक्ति का सर्व सामान्य के हृदय में लीन हो जाना जो 'भाव की पवित्र भूमि' मानी गई है। हृदय की मुक्तावस्था की जो बात कही गई है उसी आधार पर इसका भी विवेचन किया गया है और दोनों बातों में एक ही सत्य स्पष्ट होता है व्यक्ति का संकुचित भावों का परित्याग कर सर्व साधारण के साथ तादात्मय स्थापित होना कहा गया है।

पाश्चात्य साहित्य के अन्तर्गत पाई जाने वाली सौंदर्यानुभूति को भी रस-दशा में अपनाया गया है। सौंदर्यानुभूति के सम्बन्ध में आपने लिखा है कि कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणित हो जाते हैं। हमारी अंतस्सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है।" इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि रसानुभूति के सदृश्य यहाँ भी [२] मन का रमना 'रूप रंग' की वस्तुओं' के साथ माना गया है। अतः जो तीन बात रसानुभूति के सम्बन्ध में कही गई हैं उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य रसानुभूति को जीवन की अनुभूति अवश्य स्वीकार करते है, परन्तु इस अनुभूति को वे उदात्त तथा अवदात्त कहते हैं। अतः दुखात्मक भावों की अनुभूति पर यदि आचार्य के मतानुसार विचार किया जाए तो प्रतीत होता है कि यह अनुभूतियाँ दुखमय ही मानी गई हैं। कथन की पूर्णतः स्पष्ट है दुखान्त नाटक अथवा काव्य के देख या पट दर्शक पाठक रोते पाए गए हैं, जो अवश्य ही दुख के कारण होता है। परन्तु इस स्थिति में हृदय मुक्तावस्था को प्राप्त हो चुका होता है अतः यहाँ व्यक्ति एक प्रकार के रस का अनुभव करता

---

[२] चिन्तामणि पृ० २२४

है। पाठक तादात्मय के कारण दुखी होता है और उसको प्रकट करने में उसे एक प्रकार के आनन्द की प्राप्ति होती है।

प्राचीन आचार्यों ने रस को पूर्ण स्वीकार कर उसकी श्रेणियाँ नहीं की हैं, परन्तु साहित्य के अध्ययन के पश्चात् प्रतीत होता है कि जहाँ रस की पूर्ण अनुभूति हुआ करती है वहीं कभी कभी ऐसी अनुभूति भी होती है जिसे पूर्ण स्वीकार नहीं किया जा सकता। आचार्य ने इसी आधार पर रस की श्रेणियाँ की हैं। उनके विचार से अनुभूतियाँ दो प्रकार की हो जाती हैं—

(१) जिस भाव की व्यञ्जना हो उसी में लीन हो जाना।

(२) जैसी व्यञ्जना हो उसमें लीन न होकर, व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुरोध करना।

आचार्य प्रथम प्रकार की अनुभूति को श्रेष्ठ और द्वितीय को मध्यम स्वीकार करते हैं। क्योंकि यहाँ हृदय की लीनता नहीं पाई जाती परन्तु हृदय केवल काव्य की प्रसंशा मात्र करता है। उन दो कोटियों में से प्रथम में तो पाठक या दर्शक काव्य में वर्णित आश्रय के साथ तादात्मय और आलम्बन के साथ साधारणीकरण करता है जो उस की उच्च श्रेणी है और दूसरे में किसी भाव की व्यंजना करने वाला शील की दृष्टि से किसी भाव का आलम्बन बनता है। यहाँ आलम्बन के साथ साधारणीकरण और आश्रय तादात्मय नहीं होता इस स्थिति में पाठक के भावों का अनुभव और आलम्बन के भावों की व्यञ्जना में बहुत अन्तर रहता है। परन्तु ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्मय या सहानुभूति न होगी बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रवृत्ति-द्रष्टा के रूप में प्रमुख ग्रहण करेगा और यह प्रमाद भी रसात्मक होगा।"[3] अतः यह स्पष्ट है कि दूसरी दशा जिसे मध्यम दशा कहा गया है भाव-व्यञ्जना करने वाले पात्र के प्रति कोई न कोई भाव अवश्य उत्पन्न होते हैं। आचार्य का मत है कि यहाँ "पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का

---

[3] चिन्तामणि पृ० ३१४

आलंबन रहता है, पाठक व दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है।" इस प्रकार की अनुभूति का सम्बन्ध पात्रों से चरित्र चित्रण और शील निरूपण के साथ रहता है। ऐसे अनेक उदाहरण पाए जाते हैं जब कुपात्र किसी सुपात्र के प्रति इस प्रकार के भावों की व्यञ्जना करता है जो उसके अनुरूप नहीं होता तब पाठक में कुपात्र के लिए विरोधी तथा सुपात्र के लिए अनुकूल भाव जाग्रत होते हैं। और किसी अन्य पात्र आकर कुपात्र का विरोध करता है तब पाठक एक प्रकार की 'अपूर्व तुष्टि' का अनुभव करता है। आचार्य के मतानुसार यहाँ पर ध्यान रखना आवश्यक है कि उच्चकोटि की रस-दशा में व्यक्ति कुछ समय को अपने को भूल आश्रय की भावात्मक सत्ता में लीन हो जाता है, परन्तु दूसरे प्रकार की रस-दशा में वह अपनी स्थिति को पूर्णतः पृथक बनाए रखता है। इन दो दशाओं के अतिरिक्त आचार्य ने रस की एक और दशा जिसे निकृष्ट दशा नाम दिया गया है स्वीकार की है। इसके अन्तर्गत आप चमत्कारवादियों को लेते हैं। आपने स्पष्ट रूप से लिखा है—"चमत्कार-वादियों के कुतूहल का भी काव्यानुभूति के अंतर्गत ले लेने पर रसानुभूति की क्रमशः उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन दशाएँ हो जाती हैं।"

रस की इन कोटियों को निर्धारित करने का कारण यह है कि आचार्य भाव की तीन दशाएँ मानते हैं जो क्षणिक दशा, स्थायी दशा, और शील दशा कही गई हैं। जिनमें क्षणिक दशा एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति होती है, यह उनके मत से मुक्तक रचनाओं में पाई जाती है। स्थायी दशा अनेक अवसरों पर एक ही आलम्बन के प्रति होती है जो प्रबन्ध काव्य में मिलती है और शील दशा अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है यह अनुभूति पात्रों के चरित्र-चित्रण में हुआ करती है, इसी का आपने विशद रूप से वर्णन किया है।

काव्य व्यक्ति के सामने मूर्त्ति, चित्र या रूप प्रस्तुत करता है, जिनके आधार संसार के प्रत्यक्ष अनुभव ही होते हैं। कवि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अपने प्रत्यक्ष अनुभव को काव्य में किसी न किसी रूप में प्रस्फुटित करता है। आचार्य रसात्मक बोध के तीन रूप स्वीकार करते हैं—

(१) प्रत्यक्ष रूप विधान।
(२) स्मृत रूप विधान।
(३) कल्पित रूप विधान।

प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने इनमें से केवल कल्पित रूप विधान में ही रसानुभूति होना माना है, परन्तु आचार्य का मत है कि कल्पित के साथ-साथ प्रत्यक्ष और स्मृत में भी रसानुभूति होती है। प्राचीन आचार्यों ने केवल कल्पित रूप-विधान में रसानुभूति सम्भवतः इसलिए स्वीकार भी है क्योंकि कवि जब अपनी कविता में रूप-विधानों की योजना करने बैठता है उस समय उसकी दृष्टि में स्मृति और कल्पना मात्र रहती है, जिसके आधार पर वह विभिन्न रूपों का चित्रण किया करता है। परन्तु आचार्य को यह मान्यता स्वीकार नहीं वे तीनों विधानों में रसानुभूति का होना मानते हैं।

प्रत्यक्ष रूप विधान में आचार्य चक्षु—विषयक रूपों को ही नहीं स्वीकार करते परन्तु इसके अन्तर्गत शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श भी लिया गया है। प्रत्यक्ष रूप के रसानुभूति के सम्बन्ध में आचार्य का कथन है "जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलम्बनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के सम्बन्ध में लोक के साथ या कम से कम सहृदयों के साथ हमारा तादात्म्य रहता है। ऐसे विषयों या आलम्बनों के प्रति हमारा जो भाव रहता है वही भाव और भी बहुत से उपस्थित मनुष्यों का रहता है।"† यह बात पहले प्रतिपादित की जा चुकी है कि आचार्य काव्य की रसानुभूति और जीवन की अनुभूति में अन्तर नहीं मानते हैं। आपने रति और हास से उदाहरण प्रस्तुत कर यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रत्यक्ष अनुभूति में भी रसानुभूति पूर्ण रूप से सम्भव हो जाता है। पाश्चात्य आलोचक रिचर्ड्स‡ का उद्धरण भी इसी बात को पुष्ट करते हुए दिया है जिसका आधार यही है कि वास्तविक अनुभूति में रसात्मकता हुआ करती है।

† रस मीमांसा पृ० २७०। ‡ रस मीमांसा पृ० २७२।

प्रत्यक्ष रूप व्यापारों में रसात्मकता होने के साथ-साथ आचार्य भूत-काल में प्रत्यक्ष की हुई परोक्ष वस्तुओं के स्मरण भी रसात्मक स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में भी कभी-कभी शुद्ध रस दशा में पहुँच अपने संकुचित घेरे से ऊपर उठ जाता है। स्मृति के दो रूप हैं—विशुद्ध स्मृति और प्रत्यक्षाश्रित स्मृति।

शुक्ल जी रति, हास और करुणा से सम्बन्ध स्मरण को अधिकतर रसानुभूति के उपयुक्त समझते हैं इसके साथ वे अन्य भावों के आलम्बनों के स्मरण में भी रसात्मकता स्वीकार करते हैं, परन्तु इस स्थिति में यह आवश्यक है कि आलम्बन के भावों में सम्पूर्ण समाज के भावों का समा-वेश रहे। उपर्युक्त जिन भावों के विश्लेषण के सम्बन्ध में आचार्य ने लिखा है उसकी पुष्टि उन्होंने इन पंक्तियों द्वारा की है—"प्रिय का स्मरण, बाल्य-काल या यौवन-काल के अतीत जीवन का स्मरण, प्रवास में स्वदेश के स्थलों का स्मरण............।"† इन स्मरणों द्वारा भी व्यक्ति सामान्य भाव भूमि पर आ जाता है। केवल अपने प्रिय व्यक्तियों का ही नहीं, प्रत्युत उन वस्तुओं और व्यक्तियों जिनके साथ हमारे निकटतम सम्बन्ध नहीं रहते उनकी स्मृति में भी देश-काल का अन्तर पड़ जाने पर माधुर्य के भाव मिलने लगते हैं। जिससे हम पहले 'चिढ़ते या लड़ते' झगड़ते थे। उनसे भी स्मृति के द्वारा रसानुभूति का अनुभव किया करते हैं, इसका कारण यह है कि देश-काल की दूरी उन बातों को दूर कर ऐसे व्यक्तियों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर दिया करती है।

स्मृति का दूसरा रूप प्रत्यभिज्ञान कहा गया है इसमें थोड़ा अंश प्रत्यक्ष का रहता है और शेष विधान स्मरण द्वारा नियोजित होता है। इसका रूप अधिकतर 'यह वही हैं' रहता है इसमें रसात्मक बोध की तीव्र शक्ति रहती है। वस्तु अथवा व्यक्ति को देख उससे सम्बन्धित अनेक वस्तुओं और रूपों की योजना जो उसके विचारों से उत्पन्न होती है इस

---

† रस मीमांसा पृ० २७७।

स्मृति की पहिचान है। आचार्य का विचार है कि प्रत्यभिज्ञान प्रक्रिया द्वारा रस संसार का विधान कवि तथा वक्ता बराबर किया करते हैं।

इन रूपों के अतिरिक्त आचार्य 'स्मृत्याभास कल्पना' में भी रस संचार की शक्ति मानते हैं। यह उस कल्पना का रूप है जो "स्मृति व प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करके प्रवृत होती है।"‡ इनमें ऐसी बातों को लिया जाता है जो सुनी गई होती हैं अथवा जिनके सम्बन्ध में अनुमान कर लिया जाता है। यहाँ कल्पना का प्रमुख स्थान रहता है। यहाँ अतीत की कल्पना भावुक व्यक्तियों में एक सजीवता प्रदान कर देती है। यह कल्पना या तो इतिहास पर रहती है अथवा अनुमान पर आधारित रहती है।

इतिहास द्वारा समिष्ट रूप से मानव का सम्बन्ध अतीत के मानव तथा उसकी क्रियाओं के साथ रहता है। अतः जिस प्रकार मानव का अतीत से सम्बन्ध रसानुभूति के योग्य रहता है उसी प्रकार इस सम्बन्ध में भी रस-संचार की शक्ति पूर्ण रूप से निहित रहती है। उदाहरणार्थ किसी घटना विशेष को पढ़ अथवा किसी इतिहास प्रसिद्ध स्थल को देख मन स्वाभाविकतः ही उसमें लीन हो जाया करता है। इतिहास पर चलने वाली कल्पना अनुमान का सहारा लेकर चलती है। इस कारण ऐसे रस संचार के लिए भावुकता, कल्पना शक्ति तथा ऐतिहासिक अध्ययन अति आवश्यक होता है।

इतिहास के अतिरिक्त अनुमान पर आश्रित स्मृत्याभास कल्पना द्वारा रसानुभूति के लिए प्रत्यक्ष वस्तु तथा व्यक्ति आपेक्षित होता है। इन वस्तुओं तथा व्यक्तियों के आधार पर अनुमान द्वारा कल्पना का विधान किया जाता है। रूप-विधानों का सम्बन्ध मानव के सकुचित भावों के साथ न रहने के कारण उसमें पूर्ण रसात्मकता पाई जाती है। आचार्य का इस सम्बन्ध में मौलिक विचार है क्योंकि आपका मत है कि अतीत का क्षेत्र मुक्ति लोक है जहाँ मानव पूर्ण रूप से विचरण कर रस का अनुभव करता है।

‡ रस मीमांसा पृ० २८१।

प्रकृति के क्षेत्र में आचार्य प्रत्यक्ष और यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन दोनों में रसात्मक शक्ति पूर्ण रूप से अनुभव करते हैं। आज की सभ्यता प्रकृति के बीच उदित हुई है शहर में रहने वाले व्यक्तियों के पूर्वज प्रकृत्ति के सम्पर्क में रहा करते थे। यह सम्पर्क अत्यन्त प्राचीन होने का कारण उसके प्रति मानव मन में हेतु ज्ञान शून्य प्रेम रहा करता है। वासना रूप में प्रवृत्ति का वंशपरम्परागत प्रेम रहने के कारण उससे रसानुभूति होना स्वाभाविक है। कहा जा सकता है कि प्रकृति के किसी अत्यन्त मनोहर दृश्य को देख मन स्वभावतः नाच उठता है, एक प्रकार के हर्ष का अनुभव होता है, यही रस का संचार है। प्रकृति के यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण द्वारा भी कवि किसी भाव का आलंबन प्रस्तुत कर सकता है पाठक पढ़ते समय स्वयं भाव का आश्रय होता है और उसके लिए वही आलंबन बन जाता है। आचार्य का मत है कि प्रकृति के आधार पर विभाव, अनुभाव और संचारी से भाव व्यंजना हो सकती हैं, परन्तु वे आलंबन मात्र के विशद वर्णन को रसानुभव के उपयुक्त समझते हैं, यह बात ऊपर व्यक्त की जा चुकी है। प्राचीन आचार्यों के सन्मुख रस-निष्पत्ति योजना के लिए केवल दृश्य काव्य रहे इस कारण उन सब अवयवों के विधान की आवश्यकता प्रतीत हुई, परन्तु पाठ्यकाव्यों में यह पूर्ण सत्य है कि रसानुभूति जैसा आचार्य ने कहा है आलबन में चित्रण मात्र से भी हो जाया करती है। प्रकृति को जड़ समझ आलंबन जो चेतना युक्त और सजीव होता है उसके उपयुक्त न मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृति जड़-वत के रूप में काव्य में न अपना कर सजीव और भावनाओं के आरोपित रूप में अपनाई जाती है। उद्दीपन रूप में ली गई प्रकृति भी कवि गण सजीव रूप में लिया करते हैं। अतः प्रकृति के इन चित्रों में रसात्मक बोध की क्षमता पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है।

शुक्ल जी 'हाव' और 'अनुभाव' की भिन्नता आलंबन और आश्रय की दृष्टि से प्रतिपादित करते हैं, यहाँ हिन्दी की परम्परा के विरुद्ध आप रस ग्रंथों के निकट प्रतीत होते हैं। आश्रय की चेष्टाओं को आप अनुभाव और नायिका को रमणीयता प्रदान करने मात्र वाले अलंकार को 'हाव'

कहते हैं। आपका मत है कि नायिका आलंबन हुआ करती है उसकी मनोहारिता बढ़ाने के लिए जो अलंकार होते हैं वे आश्रय के भाव को उद्दीप्त करते हैं। अतः हाव का सम्बन्ध आलंबनगत उद्दीपन से रहता है। आश्रय से इसका सम्बन्ध वे स्वीकार नहीं करते। हिन्दी के लक्षणकार कवियों की भाँति हाव को आचार्य अनुभाव के साथ नहीं रखते हैं।

संचारी भावों के सम्बन्ध में आचार्य का विचार है कि एक संचारी भाव, दूसरे संचारी भाव का स्थायी बनकर आ सकता है। कई संचारी भाव भाव विभाव, अनुभाव और संचारी से युक्त हो स्थायी भाव का अनुभव प्रदान करते हैं परन्तु इसके द्वारा रसावस्था सम्भव नहीं हुआ करती। तात्पर्य यह है कि संचारियों के ऐसे विधान द्वारा स्थायी भाव की अनुभूति के स्थान पर उनकी ही अनुभूतियाँ हुआ करती हैं। असूया और अमर्ष जो रति के संचारी हैं उन्हें आप इसी श्रेणी में रखते हैं। संचारी प्रधान भाव के आलंबन से भिन्न होने पर भी आलंबन की स्थिरता के कारण 'भाव' का स्थायित्व ग्रहण किए रहते हैं।

आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते थे आपके विचारानुसार रस का निरूपण भारतीय साहित्य के अन्तर्गत अति सूक्ष्मता के साथ किया गया है। स्थायी, संचारी का भेद इसके उदाहरण हैं। शुक्ल जी ने रस निरूपण का आधार तो प्रचीन ही लिया है, परन्तु प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक स्थलों पर मौलिक उद्भावनाएं प्रस्तुत की गई हैं। रसानुभूति के स्वरूप के सम्बन्ध में आपकी अपनी स्वतंत्र विचार धारा है। काव्य जीवन की अनुभूति कही गई है, इसी आधार पर रसानुभूति भी जीवन के भीतर की ही अनुभूति है उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। इसके कारण भी आपके द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। रस की कोटियाँ जो निरधारित हुई हैं उनमें भी प्राचीन आचार्यों से कहीं कहीं भिन्नता मिलती हैं। रसात्मक बोध के रूपों की व्याख्या भी स्वतंत्र रूप से की गई है।

अध्याय ११

आचार्य की भाषा-शैली

शैली शब्द का प्रयोग आधुनिक काल में यद्यपि बहुत विस्तृत रूप में किया जाने लगा है, परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से इस शब्द का विश्लेषण किया जाए तो मूल रूप से इसमें वैशिष्ट्य का विधान रहता है। यह विधान चाहे किसी रूप में प्रयुक्त किया जाए लेकिन वैशिष्टय अवश्य रहेगा जो व्यक्ति मात्र का ध्यान आकर्षित कर सके। किसी कवि अथवा लेखक की शैली पर जब विचार किया जाता है तब उसकी इसी विशिष्टयता जो उसके लिखने के ढंग और रीति में प्रदर्शित होता है, विचार किया जाता है। विशिष्टयता के कारण प्रत्येक कलाकार में भिन्नता का पाया जाना जो उसका 'अपनापन' लिए रहती है, स्वाभाविक है। 'अपनेपन' के आने पर ही कलाकार शैली विशेष का अधिकारी बन पाता है और जब तक यह तथ्य उसके साथ पूरा-पूरा नहीं उतरता तब तक उसकी लेखनी की विशेष शैली के अन्तर्गत स्वीकार नहीं कर सकते।

शैली अपने इस विशिष्टयता के कारण व्यक्तित्व का विश्लेषण सम्भव कर देती है। यह कथन स्पष्ट ही है क्योंकि व्यक्ति स्वाभाविकता ही अपनी रुचि तथा अपने सौन्दर्य की ओर झुका करता है। जिसकी जैसी रुचि, संस्कृति और परिष्कृत होती है वह उसी ओर झुका करता है, उसकी शैली उसकी रुचि के अनुसार हुआ करती है। इसलिए सम्भवतः कहा गया है "Style is the man himself"। कलाकार जैसी रुचि, प्रकृति तथा व्यक्तितत्व धारण किए होगा उसकी शैली भी उसी के अनुरूप होगी। शैली शब्द का जिन-जिन क्षेत्रों में प्रयोग होता है उनमें सबमें यह

बात सत्य बैठती है। व्यक्तित्व की छाप जिस प्रकार शैली पर झलकती है उसी प्रकार विषय और शैली में भी घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है। एक व्यक्ति जब साहित्य के अनेक अंगों पर अपनी लेखनी उठाता है उस समय यद्यपि उसके व्यक्तित्व की छाप जिसे अमिट कहा जा सकता है दिखाई देती है परन्तु विषयान्तर हो जाने के कारण शैली में परिवर्तन अवश्य आ जाता है। शैली का सम्बन्ध विषय से स्थापित करते समय भाषा को ध्यान में रखना भी आवश्यक है। विषय की गूढ़ता तथा विषयों की विभिन्नता के साथ यदि लेखक की भाषा-शक्ति सशक्त और श्रेष्ठ हुई जिसके द्वारा वह अपने भावों की व्यंजना पूर्ण रूप में कर सके, तो इस आधार के अनुसार शैली में अन्तर आ जाया करता है। जिस साहित्य की भाषा जितनी सुदृढ़ होगी उसके कलाकार उतनी ही उच्च श्रेणी की शैली प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ करते हैं। अतः शैली की श्रेष्ठता लेखक के व्यक्तित्व जिसके अन्तर्गत उसकी रुचि और सौन्दर्य भावना आती है, उसकी भाषा शक्ति अर्थात् भाषा पर अधिकार और विषय जिसका तात्पर्य गूढ़ता और सरसता से है, इन बातों पर आधारित रहती है।

उपर्युक्त दृष्टि के आधार पर यदि शुक्ल जी को परखा जाए तो उनकी गद्य-शैली की विवेचना करने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होगी। शुक्ल जी के व्यक्तित्व का गाम्भीर्य और रुचि की परिष्कृतता के साथ हास्य-व्यंग्य वाली प्रवृति से हिन्दी साहित्य जगत पूर्णतः परिचित है। विषय तथा भाषा पर जब विचार किया जाता है तो निबन्धों के सम्बन्ध में आचार्य ने तीन प्रकार के विषय भाव सम्बन्धी, समालोचना सम्बन्धी तथा कवियों पर लिखे गए लेख उनके अन्तर्गत आते हैं। भाषा पर लेखक को पूर्ण अधिकार था। विषय-भेद के कारण अवश्य भाषा में कहीं-कहीं अन्तर प्रदर्शित होता है। आचार्य ने हिन्दी साहित्य में अपनी लेखनी उस समय उठाई थी जो हिन्दी साहित्य की उन्नति का काल था। भाषा में प्रौढ़ता तथा गद्य के स्वरूप की विशिष्टयताएँ आने लगी थीं। शुक्ल जी ने समया-नुसार श्रेष्ठ शैली प्रसारित की जिसके अन्तर्गत विशेष कौशल सौष्ठव, सौन्दर्य तथा प्रभावशालीनता स्पष्ट रूप से झलकने लगी।

यह बात पहले व्यक्त की जा चुकी है कि शैली में व्यक्तित्व रहता है। इस दृष्टि से शैली विचार के अन्तर्गत लेखक के व्यक्तित्व और उसकी विशेषताएँ ध्यान में रखी जाती हैं। वाल्टर पेटर के अनुसार शैली में दो पक्ष होते हैं—आत्म पक्ष (Soul in Style) और मानस पक्ष (Mind in Style) शुक्ल जी के शब्दों में यही हृदय पक्ष और कला पक्ष हैं। इन पक्षों के आधार पर यदि आचार्य की शैली का प्रतिपादन किया जाए तो स्वयं ही जैसा उन्होंने चिन्तामणि के आरम्भ में कहा है कि उनके निबन्ध हृदय और मस्तिष्क दोनों को लेकर चले हैं, आपकी शैली पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। आचार्य की गद्य-शैली उत्तरोत्तर अध्ययन का परिणाम थी अतः उसका शिष्ट और संस्कृत होना स्वाभाविक है। आपने एक स्थल पर लिखा है "खेद है कि समास शैली पर ऐसे विचारात्मक निबन्ध लिखने वाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परम्परा कसी हो, दो-चार लेखक हमें न मिले।" यह वाक्य उनकी शैली स्पष्ट करता है प्रधानतः उनकी शैली समास की ही है। इनमें वाक्य गठे-बँधे और अर्थ परम्परा कसी हुई हुआ करती है। समास वाक्य तो यदा-कदा आपके समस्त निबन्धों में उपसंहार के समय मिल जाया करते हैं।

आचार्य द्वारा लिखे गए विषयों पर ध्यान रख उनकी तीन प्रकार की शैली मिलती हैं—

(१) आलोचनात्मक।
(२) गवेषणात्मक।
(४) भावात्मक।

आलोचनात्मक शैली—आचार्य ने अपनी आलोचनाएँ इसी शैली में लिखी हैं। इस शैली के आप जन्मदाता ही कहे जाते हैं। यहाँ छोटे-छोटे, संयत तथा अर्थ युक्त वाक्यों का प्रयोग किया गया है। वाक्यों में विषय के अनुकूल मार्मिकता तथा गाम्भीर्य पूर्ण रूप से झलकता है। व्यंग्यात्मक प्रसंग के समय वाक्य अपेक्षाकृत बड़े तथा भाषा व्यंग-युक्त हो जाया करती है। अधिकतर इस शैली के अन्तर्गत बहुत प्रभावात्मक वाक्य रचना हुई है। छोटे वाक्यों में संकेत वाचक समुच्चय-बोधक 'यदि……तो,

द्वारा वाक्य रचना में बहुत प्रभाव आ जाता है। उदाहरणार्थ—"यदि सौन्दर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता——" इस वाक्य में 'यदि' को अगर दूर कर दिया जाए तो ‡ वाक्य उतना प्रभावशाली नहीं रहेगा। जो बात 'यदि' के सम्बन्ध में कही गई वही अनेक वाक्यों में हैं, क्रिया भी अन्त में न रहने में पाई जाती है। जैसे—'कवियों को आकर्षित करने वाली गोप जीवन की सब से बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सब से अधिक अवकाश।" * इस वाक्य में 'है' अन्त में नहीं रखा गया है, परन्तु मध्य में उसका प्रयोग हुआ है जिससे वाक्य रचना में विशेष बल प्रदर्शित होता है। आलोचनात्मक शैली में कहीं कहीं आचार्य ने वृत प्रस्तुत किए हैं, जिसकी वाक्य रचना चुस्त और छोटी हुई है। यहाँ अधिकतर तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'पद्मावत की कथा' इस शैली में प्रस्तुत की गई है। कभी इतने सरल शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि मानों कोई व्यक्ति किसी साधारण बुद्धि वाले को समझा रहा है—"शानदार अमीर लोग गरीबों से क्यों नहीं बात-चीत करते? उनकी 'लघुता' ही के भय से न? वे यही न डरते हैं कि इतने छोटे आदमी के साथ बातचीत करते लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे।" † सम्भवतः अध्यापक होने के कारण शुक्ल जी में यह प्रभाव पाया जाता है।

गवेषणात्मक शैली में उन विषयों की विवेचना हुई है जो साहित्य के लिए नवीन थे, आचार्य द्वारा खोज पूर्ण तथ्य इसमें प्रस्तुत किए गए हैं। क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करने के कारण, यहाँ शैली में अधिक गंभीरता पाई जाती है। वाक्य-विन्यास आलोचनात्मक शैली के समान किया गया है परन्तु शब्द-चयन में अवश्य अन्तर मिलता है। आचार्य ने भार-

‡ गोस्वामी तुलसीदास * भ्रमर गीत सार † गोस्वामी तुलसी दास।

तीय तथा पाश्चात्य साहित्य के मनन के पश्चात् गवेषणाएँ लिखी थीं, अतः इस शैली के अन्तर्गत लिखे गए निबन्धों में गूढ़ भावों का संगठन पाया जाता है। एक एक वाक्य में विचार ठूस ठूस कर भरे गए हैं। जिनका विश्लेषण करने में पाठक को समय लगता है। यह शैली अवश्य क्लिष्ट कही जा सकती है।

आचार्य की प्रकृति में पाई जाने वाली भावुकता ने उनकी भावात्मक शैली को जन्म दिया है। यह भावात्मकता सदा संयत रही जिससे उसमें गांभीर्य बना रहता है। आपने स्वयं लिखा है जिसका तात्पर्य है कि विचारात्मक निबन्ध के बीच मार्मिक स्थल के आने पर लेखक की शैली भावात्मक हो जाती है। इसी के परिणाम स्वरूप विचारात्मक निबन्धों के अन्तर्गत इस शैली के दर्शन हो जाया करते हैं। भावात्मकता भी दो प्रकार की मिलती है एक में गांम्भीर्य अधिक और दूसरे में कम रहता है। गंभीर भावात्मक शैली के वाक्य अपेक्षाकृत लम्बे और अलंकारयुक्त रहते हैं। जैसे जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोक भाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुंजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाया लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेम-लीला का कीर्तन करने उठीं, उनमें सबसे ऊँची सुरीली और मधुर झनकार अँधे कवि सूरदास की वीणा की थी।"‡ दूसरे प्रकार की भावात्मकता 'धन्य' शब्द अथवा भावसूचक चिन्ह (i) द्वारा व्यक्त होती है। यहाँ लेखक की मुग्धता दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—धन्य है गार्हस्थ्य जीवन में धर्मलोक-स्वरूप रामचरित और धन्य है उस आलोक को घर घर पहुँचाने वाले तुलसीदास।" *

तीन प्रकार की शैलियों के अतिरिक्त सामान्य रूप से पाई जाने वाली विशेषताएँ जो आचार्य में मिलती हैं उन पर भी विचार कर लेना

‡ त्रिवेणी (i) महाकवि सूरदास पृ० ७२ * गोस्वामी तुलसीदास

आवश्यक है। इन विशेषताओं के अन्तर्गत आती हैं भाषा की मूर्तिमत्ता, रूपक-योजना, तुकदार शब्दों और वाक्यों का प्रयोग, निर्देशकों के बीच अन्तर्गति की योजना, तथा हास्य और विनोद के छींटे। शुक्ल जी की भाषा बड़ी समृद्ध शाली थी, अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने की शक्ति उनमें पूर्ण रूप से थी। शब्द चयन द्वारा वे एक मूर्ति सामने उपस्थित कर दिया करते थे। इन पंक्तियों के शब्द "ऐसी उच्च मनोभूमि की प्राप्ति, जिसमें अपने दोषों को झुका झुकाकर देखने ही की नहीं, उठा उठाकर दिखाने की भी प्रवृत्ति होती है, ऐसी नहीं जिसे कोई कहे कि यह कौन बड़ी बात है।" जिनमें झुका-झुका कर देखने और 'उठा उठाकर दिखाने' की क्रिया का वर्णन हैं एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जहाँ यह कियाएं सहसा भावों के सामने आ जाती हैं। रूपक-योजना भी मूर्तिमत्ता के लिए की गई है। जैसे "यह दृश्य हिन्दू-स्त्री के जीवन-दीपक की अत्यन्त उज्वल और दिव्य प्रभा हैं जो निर्माण के पूर्व दिखाई पड़ती है।* यह दीपक का रूपक प्रस्तुत किया गया है इन रूपकों को प्रस्तुत करते समय लेखक सांगता और पूर्णता पर सदा ध्यान रखता है।

आचार्य की शैली में तुकदार वाक्य और शब्दों के प्रयोग का उदाहरण कहीं भी देखा जा सकता है। "इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे" तथा "क्या हुआ, जो अब वह गढ़ गए, ऊँचे पर चढ़ गए' आदि इसके उदाहरण हैं। गद्य में किए गए इस प्रकार के प्रयोग से शैली प्रभावात्मक हो जाया करती है। निर्देशक चिह्न के बीच अन्तर्गति की योजना भी आचार्य की शैली में पाई जाती है। इस प्रकार की योजना अँग्रेजी गद्य-शैली में अधिक मिलती है, यहाँ कथन में जो बात रह गई है उसे चिन्हों के मध्य में रख दिया जाता है। इस प्रकार का प्रयोग जब छोटे वाक्य के लिए किया जाता है तभी वह उपयुक्त और संगत माना जा सकता है अन्यथा अर्थ निकालने में पाठक कठिनाई के कारण कभी-कभी खीज पड़ता है। आचार्य के इस वाक्य में लोकधर्म

* जायसी ग्रंथावली

और सदाचार को दृढ़ न करने वाले भाव को—चाहे वह कितना ही ऊँचा हो—वे भक्ति नहीं मानते।" सरलता तथा सुगमता पूर्ण रूप से विद्यमान है। तुकदार शब्द जो प्रभाव डालने के लिए प्रयोग में लाए गए हैं उसी से सम्बन्धित एक बात और कहनी है, वह है अपने विचारों की पुष्टता के आधार पर किए गए प्रश्नों तथा उनके समाधान में दिए गए उत्तरों का शैली में प्रयोग। इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों द्वारा भाषा में विशेष प्रभाव आ गया है।

आचार्य के व्यक्तित्व में जैसे भावुकता के दर्शन होते हैं जिसकी विवेचना ऊपर की जा चुकी है उसी प्रकार हास्य, विनोद और व्यंग्य भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। आपके लिए प्रसिद्ध है कि "उनके हास्य की मधुर कलियाँ उसी प्रकार खिल पड़ती हैं जिस प्रकार संध्या के मौन, गंभीर आकाश में विरत तारिकाएँ।" तारिकाओं के सदृश्य गंभीर भावों के बीच छिटका हुआ हास्य पाठक का मन बहलाव कर दिया करता है। भावुकता के समान हास्य भी गांभीर्य लिए हुए रहता है कभी हल्के रूप में नहीं पाया जाता। हास्य-विनोद का प्रयोग करते समय लेखक की दृष्टि पूर्ण रूप से जैसा ऊपर कहा गया है मन बहलाव पर रहती है। लेखक कभी-कभी बहुत मधुर व्यंजना कर जाया करता है। जैसे "इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई जिसे प्रेम कहते हैं।" हास्य-व्यंग्य की शैली के लिए अधिकतर लेखक ने अरबी, फारसी के शब्द प्रयुक्त किए हैं, आचार्य का विचार था कि इन भाषाओं के शब्द उपर्युक्त विवेचन के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं। कभी-कभी प्रचलित अँग्रेजी के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

हास्य का प्रयोग जहाँ आचार्य ने केवल मन बहलाव के लिए किया है वहाँ व्यंग्य अपने दोनों लक्ष्यों के लिए प्रयुक्त किया गया है। व्यंग्य के दो लक्ष्य रहते हैं—एक के द्वारा त्रुटियों पर इस प्रकार से चोट की जाती है कि उसका अनुभव हो सके और दूसरे के द्वारा केवल हास्य की सृष्टि की जाती है। प्रथम प्रकार का व्यंग्य इन पंक्तियों द्वारा व्यक्त होता

है—"मोटे आदमियों तुम ज़रा सा दुबले हो जाते, अपने अंदेशे से ही सही, तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता।"‡

लेखक ने यहाँ सामाजिक-व्यवस्था में पाई जाने वाली पाई विषमता पर कटु व्यंग्य किया है। ऐसे वाक्यों में वस्तु, विषय तथा व्यक्ति के प्रति जो त्रुटियाँ पाई जाती हैं उनमें आपकी खीझ झलकती है। दूसरे प्रकार के वाक्य जैसे "कवि के हृदय के भीतर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक आए है।" में व्यंग्य केवल हास्ययुक्त रहता है। हास्य विनोद के सम्बन्ध में यह बात व्यक्त की जा चुकी है कि आपने कभी-कभी अँग्रेजी और अरबी, फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भी किया है। यह प्रयोग हास्य की सृष्टि के लिए हुआ है। अरबी-फारसी के शब्द मुसलमानों से सम्बन्धित किसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए हुए हैं। इनका प्रयोग तत्सम रूप में किया गया है। जैसे शमा परवाना वाला तद्भव रूप जो हिन्दी का प्रचलित प्रयोग है आपने तत्सम रूप—'शमः परवाना' ही किया है।

आचार्य द्वारा किस प्रकार नवीन गद्य-शैली को जन्म दिया गया तथा उनके द्वारा कितने नवीन विषय हिन्दी-साहित्य को प्राप्त हुए, यह बात हिन्दी-साहित्य जगत के प्रत्येक व्यक्ति को अवगत है। जहाँ विषय में नवीनताएँ थी वहाँ व्यक्तित्व का गांभीर्य और अध्ययन की प्रौढ़ता के साथ लेलक सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा कि उसके विचार पाठक को अधिक से अधिक रूप में स्पष्ट हो सकें। यही कारण है कि आचार्य एक विचार को सूत्र-रूप में रखते हैं। यह सूत्र सर्वत्र उनकी रचनाओं में बिखरे मिलते हैं। सूत्र रूप में विचार प्रकट कर सरल से सरल शब्दों तथा अनेक उदाहरणों द्वारा उस सूत्र का विश्लेषण किया जाता है। जैसे आपने खिला "भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।" सूत्र प्रस्तुत करने के पश्चात् उसकी व्याख्या के लिए वाक्य का एक-एक शब्द लेते हैं—भक्ति क्या है?, धर्म क्या है? और रसानुभूति का क्या

‡ लोभ और प्रीति।

तात्पर्य है ? आदि। व्याख्या और विश्लेषण करने के बाद लेखक फिर से सारांश में अपने विचारों को रख देता है। इसी कारण "सारांश यह है" का प्रयोग प्रत्येक निबन्ध में पाया जाता है। इन प्रयोगों में कभी-कभी जब लेखक संतुष्ट नहीं होता तो पुनरावृत्ति भी कर जाता है। उपर्युक्त तथ्य के कारण आचार्य अपनी भाषा को अधिक से अधिक सबल और प्रभावशाली बनाने का प्रयत्न करते प्रतीत होते हैं। जिसके कारण कहीं-कहीं व्याख्यानात्मकता का पुट भी पाया जाता है।

शैली से सम्बन्धित विशेषताओं के वर्णन के पश्चात् केवल एक दो बातें और रह जाती हैं। इसमें से एक है—प्रभावोत्पादन। शैली द्वारा लाया गया प्रभाव अथवा चमत्कार लेखक की पटुता और अध्ययन पर आधारित रहता है। जिसके द्वारा लेखक ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका विशिष्ट अर्थ निकला करता है। इन शब्दों के प्रयोग द्वारा ध्यान सहसा उन विशेष अर्थों पर चला जाता है। आचार्य की शैली में यह प्रवृत्ति अनेक स्थानों पर पाई जाती है। निम्न वाक्य 'जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर चली थी" में 'भेद' तथा 'अभेद' शब्द साधारण अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं परन्तु इन शब्दों का प्रयोग अधिकतर दार्शनिक अर्थ में ही हुआ करता है अतः पाठक का ध्यान उस ओर चला जाता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्य ने एक और गद्य शैली अपनाई है जिसमें विशेष वाक्य-योजना का प्रयोग किया जाता है। वाक्य-योजना ही यहाँ इस प्रकार की होती है जो पाठक को प्रभावित करती है, वाक्य इसमें लम्बे रहते हैं परन्तु फिर भी पाठक को अर्थ समझने में कठिनाई प्रतीत नहीं होती। आचार्य का तुलसी से सम्बन्धित भिन्न वाक्य कवि के प्रभाव को व्यक्त करने के लिए ही लिखा गया है—"उनकी (तुलसी की) वाणी के प्रभाव से आज भी हिन्दू-भक्त अवसर के अनुसार सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, महत्व पर श्रद्धा करता है, शील की ओर प्रवृत्त होता है, सन्मार्ग पर पैर रखता है, विपत्ति में धैर्य धारण करता है, कठिन कर्म से उत्साहित होता है, दया से आर्द्र होता है, बुराई पर ग्लानि करता है, शिष्टता का आलंबन करता है और मानव-जीवन के महत्व का अनुभव

करता है।" वाक्य के अर्थ में कोई कठिनाई नहीं, तुलसी की महत्ता को व्यक्त करने के लिए लेखक ने समस्त तथ्यों को समन्वित कर एक वाक्य में रख दिया है, जो पाठक पर बिना प्रभाव डाले नहीं रह सकता।

आचार्य की शैली के साथ जब उनकी भाषा पर ध्यान जाता है तो प्रतीत होता है कि उनकी भाषा गँठी हुई है। उनको भाषा पर पूर्ण अधिकार था अतः भाषा प्रयोग विचारों के अनुसार हुआ है। भाषा में यथा स्थान तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। आलोचनाओं में विशेषतः तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है और निबन्धों में जहाँ आचार्य की दृष्टि विचारों की स्पष्टता पर रहती थी, वहाँ तद्भव शब्द प्रयोग में लाए गए हैं। शैली में बोलचाल के चलते शब्द भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं—'भड़कीला', 'कंठहुर्जनी', 'तड़क-भड़क' 'अटकलपचू' आदि। समयानुसार आचार्य ने अपनी भाषा की स्पष्टता को ध्यान में रख तत्सम रूपों का प्रयोग न करते हुए शब्द के व्यवहारिक प्रयोग किए हैं। 'यजमान' और 'भांडार' शब्द प्रचलित और व्यवहारिक रूप में 'नजमान' और 'भंडार' ही प्रयुक्त किया जाता है आचार्य ने उसी रूप में प्रयोग किया है। अँग्रेजी के भी प्रचलित प्रयोगों को उन्होंने अपनाया है। मुहावरों तथा लोकोक्तियों द्वारा भाषा की सजीवता अधिक हो जाया करती है। आचार्य की भाषा में इसके प्रयोग सर्वत्र पाए जाते हैं। जैसे—'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' 'दाँत तोड़ना', 'कान खुले रखना', 'मुंह खोलना' आदि इन प्रयोगों द्वारा आपकी भाषा प्रभाव शाली बन गई है।

आचार्य ने अंग्रेजी का अच्छा अध्ययन किया था। आपके निबन्धों में अँग्रेजी निबन्ध तथा तथ्य की दृष्टि से प्रभावित हैं। विचारों के साथ अँग्रेजी भाषा से भी आपने बहुत कुछ ग्रहण किया है। आचार्य ने अँग्रेजी के अनेक अनुवाद किए थे अतः भाषा की दृष्टि से कहीं कहीं अँग्रेजी की लाक्षणिकता और वक्रता भी आप में पाई जातो है। अँग्रेजी के पारिभाषिक शब्द तथा अन्य शब्द के प्रतिशब्द आपने हिन्दी में बनाए तथा

संस्कृत के शास्त्रीय शब्दों का यथावत प्रयोग किया। इस कारण आपकी भाषा-शैली में एक विशेष प्रकार की पारिभाषिकता पाई जाती है।

आचार्य द्वारा लिखे गए विषय तथा उनके व्यक्तित्व को ध्यान में रख उनकी भाषा-शैली के विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनमें विशेष सौष्ठव, प्रभावात्मकता तथा पटुता के साथ भाषा पर पूर्ण-अधिकार था। शैली-विवेचना का मुख्य कार्य यही रहता है जो प्रतिपादित कर सके कि लेखक अपने भाव और विचारों को अपने शब्दों में कहाँ तक ठीक ठीक प्रयुक्त कर सका है। इस दृष्टि से आचार्य के विचार और भावों का भाषा के साथ पूर्ण सामंजस्य है। आपकी भाषा में माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुण पूर्णतः पाए जाते हैं जो मधुर, ओजस्वी तथा प्रसन्न आदि भावों का उपयुक्त भाषा-प्रयोग द्वारा हो पाया है। प्रभावात्मकता के महत्व को स्पष्ट करते हुए यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि यह आचार्य में विशेष गुण है जिसके बल पर कहीं कहीं व्यक्तित्व का ओज भाषा में मिलता है। आचार्य की शैली के सम्बन्ध में यदि कोई क्लिष्टता का आरोप करे तो यह केवल विषय की दुरूहता तथा समास-शैली के प्रयोग के कारण ही आगया है, जो सर्वत्र न होते हुए गवेषणात्मक निबन्धों में ही आ पाया है।

अन्त में आचार्य की भाषा-शैली का विवेचन कर चुकने के पश्चात् यह ध्यान रखना अति आवश्यक है कि उपर्युक्त गुणों से युक्त हिन्दी-साहित्य में शैली-निर्माण का कार्य आपने विशेष रूप से किया था। आपका स्थान हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ शैली-निर्माताओं में आता है। हिन्दी-भाषा ही नहीं प्रत्युत संसार की किसी भी समृद्धशाली भाषा के गद्य-शैलीकार के समकक्ष खड़े होने का श्रेय आपको प्राप्त हो सकता है।

———